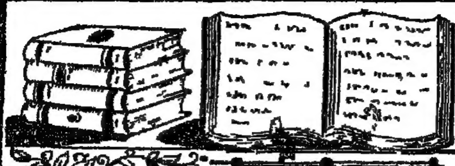


विनोदशंकर व्यास

की

४१ कहानियाँ

गंगा—ग्रंथ-माला ७

"कर्मवीर"—श्रीयुत विनोदशंकर व्यास उस स्कूल के यशस्वी लेखक हैं, जो घटनाओं की अपेक्षा भावों को अधिक मान देता है।

"भारत"—पं० विनोदशंकर व्यास अपनी सुन्दर, भावपूर्ण, मार्मिक एवं मौलिक कहानियों के लिए प्रसिद्ध हैं।

"[illegible]"—व्यासजी हिन्दी के एक अच्छे कहानी-लेखक माने जाते हैं।

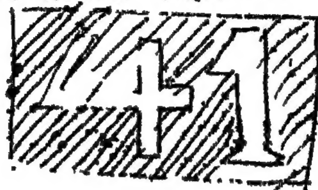
"स्वदेश"—व्यासजी अपनी सुन्दर छोटी कहानियों के लिए हिन्दी-जगत् में प्रसिद्ध हैं।

"मनसुखा"—व्यासजी हिन्दी के गल्प-लेखकों की नाक हैं।

विनोदशंकर व्यास

की

एकतालिस कहानियाँ



प्रकाशक

बलदेव-मित्र-मंडल, काशी

मूल्य दो रुपये

मुद्रक
विजयबहादुर सिंह, बी० ए०
महाशक्ति-प्रेस
बुलानाला, बनारस सिटी

गुरुवर

प्रसादजी

को



विनोदशंकर व्यास
१९२८

मेरे दो शब्द

संसार में मानव-समाज की उत्पत्ति के साथ ही कहानियों का आरम्भ हुआ है। जीवन के प्रत्येक अंग में कहानी छिपी हुई है। मनुष्य के मस्तिष्क की गुप्त-से-गुप्त बातें और उसकी उमंग, अभिलाषा तथा रहस्य—ये सभी कहानियों के विषय हैं। इसके अतिरिक्त भूत, प्रेत, पशु-पक्षी, समुद्र, पहाड़, वायु और वृक्ष—सभी जड़-चेतन कहानियों के उत्पत्ति-स्थान हैं। निद्रित अवस्था के अज्ञात स्वप्नों के डोरे में कहानियाँ बाँधी जाती हैं। यही नहीं, कल्पना की विशाल भूमि पर कहानियों की अगणित रेखाएँ अंकित की जा सकती हैं।

अतएव यह कहना कठिन है कि कहाँ और कैसे कहानियों का जन्म होता है। इस समस्त विश्व के आँगन में कहानियाँ भरी पड़ी हैं। मनुष्य उन्हें अपनी आवश्यकता तथा रुचि के अनुसार, अपने साँचे में ढालकर, संसार के सामने उपस्थित करता है।

प्रत्येक मनुष्य के जीवन में सैकड़ों कहानियाँ भरी पड़ी हैं। बाल्य काल की घटनाएँ, यौवन काल की मधुर स्मृतियाँ और वृद्धावस्था की दर्द-भरी आहें—सभी कहानियाँ ही हैं। इसलिए, उसे कहने और सुनने का मानव-जाति का स्वभाव है—अधिकार है।

इस संग्रह की ४१ कहानियाँ मेरे स्मृति-पथ के पद-चिह्न की भाँति आज भी मुझे बड़ी प्रिय और सुन्दर लगती हैं। इस नवीन संग्रह की समस्त कहानियाँ 'भूली बात', 'तूलिका', 'नवपल्लव' और 'धूप-दीप' नामक चार पुस्तकों के आवरण में हिन्दी-संसार के सम्मुख आ चुकी हैं।

अब यह नवीन संग्रह—समष्टि का रूप धारण करके आपके सामने उपस्थित है। यदि मेरी इन ४१ कहानियों में एक कहानी भी आपको पसन्द आई, तो मैं अपना अहो भाग्य समझूँगा।

काशी
विजया-दशमी
संवत् १९८९

विनोदशंकर व्यास

४१ आख्यायिकाएँ

विनोदशंकर व्यास

की

५१ कहानियाँ

मान का प्रश्न

१

बचपन खेलता हुआ चला गया। जवानी इठलाती हुई आ रही थी। नस-नस में यौवन-विद्युत् का संचार हो रहा था। सुभद्रा ने एक बार सुख की अँगड़ाई ली। वह बड़ी मधुर प्रतीत हुई। उसने आँखें खोलकर देखा— प्रकृति मुस्करा रही थी। गम्भीर होकर सुना—प्रेम कुछ संदेश दे रहा था।

दोपहर का समय था। वर्षा हो चुकी थी। शनिवार— बड़ा सुहावना दिन था! वह अपने पति की प्रतीक्षा में थी।

सिद्धेश्वर प्रति शनिवार को आते, रविवार बिताकर चले जाते थे। यही उनका एक नियम-सा हो गया था। गाँव में घर होने के कारण नित्य शहर जाना उनके लिए कठिन था। वह स्कूल में पढ़ाते थे। उनकी अवस्था पैंतीस वर्ष के लगभग होगी। यह उनका दूसरा विवाह था।

वह मन-ही-मन कुछ विचार कर रही थी। गाड़ी का समय हो गया था। रसोई-घर में भोजन बना रही थी। दिन-भर में यही समय उसे एकांत और अवकाश का मिलता था। वह भोजन बनाते समय ही प्रायः अपने हृदय की बातों पर विचार करती। विचार करते-करते वह ऐसी बेसुध हो जाती कि कभी-कभी तवे की रोटियाँ जल जाती थीं।

आज उसका हृदय जोश में था। विचार-धाराएँ, समुद्र की उत्ताल तरंगों की भाँति, आकाश से टकराने का प्रयत्न करती हुई लौट आती थीं।

ठीक समय पर सिद्धेश्वर घर आये। संध्या ढल चुकी थी। देखा, घर में सब प्रसन्न हैं। आते ही माता पंखा झलने लगी, छोटा भाई बातें करने लगा। सुभद्रा हाथ-मुँह धोने के लिए पानी और अँगोछा रख गई। छोटी बहू

पान बनाने लगी। एक पूरी गृहस्थी उनकी सेवा में प्रस्तुत थी।

उन्होंने ध्यान से देखा—सुभद्रा का घूँघट में छिपा हुआ सौंदर्य—जैसे सुन्दर गुलाब के गुच्छे को आबरवाँ के रूमाल से ढँक दिया हो! देखकर उन्हें अपने जीवन पर तरस आया। उनमें अब वह उत्साह न रहा।

पहले विवाह के समय उनका हृदय ही दूसरा था। अपनी पहली पत्नी के देहांत के पश्चात् उन्होंने दूसरा विवाह न करने का निश्चय कर लिया था। किंतु घर वालों के कहने पर, और जीवन को सुखी बनाने के उद्देश से, उन्हें दूसरा विवाह करना ही पड़ा।

सुभद्रा से विवाह हुए अभी छः मास ही बीते होंगे। इस बीच में वह सुभद्रा से जी खोलकर बातें भी न कर सके थे। घर पर, सप्ताह में एक-दो दिन छोड़कर, रहते ही कहाँ थे?

भोजन इत्यादि करने पर सिद्धेश्वर अपनी कोठरी में चले गये। पानी बरस रहा था। गाँव में उन्हीं का मकान दो-मंजिला था। उसमें शहर के ढँग के कमरे, खिड़कियाँ और आलमारियाँ बनी थीं। यह सब उनके पिता के

पुरुषार्थ का फल था। कुछ जमींदारी भी थी। छोटे भाई 'महेश्वर' घर ही का काम-काज सँभालते थे। कारण, वह विशेष पढ़े-लिखे न थे।

सिद्धेश्वर अपने साथ अँगरेजी का एक अखबार लाये थे। उसे पढ़ने लगे। सुभद्रा घर के कामों से निवृत्त होकर आई। सिद्धेश्वर ने अखबार से दृष्टि हटाकर देखा—सुभद्रा चुपचाप खड़ी थी। उन्होंने मुस्कुराते हुए कहा—आओ, बैठ जाओ!

क्या पढ़ रहे हैं?

अखबार।

मुझे भी पढ़ना सिखला दीजिये।

पढ़कर क्या करोगी?

आपके पास चिट्ठी लिखा करूँगी।

वह बैठ गई। सिद्धेश्वर ने खिड़की से देखा—बादलों में छिपी हुई चाँदनी सुबह की सफेदी-सी जान पड़ती थी; किंतु रात अभी दो ही घड़ी बीती थी। लैम्प के प्रकाश में सुभद्रा के पतले ओठों पर पान की लाली साफ़ दिखाई देती थी।

दोनों एक दूसरे को देखने लगे। सुभद्रा ने कहा,

आप सबको एक साथ ही क्यों नहीं रखते ? यहाँ गाँव में मन नहीं लगता।

शहर का खर्च बहुत है। वहाँ सबको कैसे ले चलूँ ? और फिर, माँ को वहाँ आराम भी न मिलेगा। गाँव के लोगों को शहर नहीं पसंद है, और शहर के लोगों को ग्राम्य जीवन नहीं अच्छा लगता।

तो आप मुझे ही अपने साथ रक्खें।

यह कैसे हो सकता है ? मैं जानता हूँ कि तुम शहर के वायुमंडल में पली हो। किंतु क्या किया जा सकता है; घर में सबको बुरा लगेगा।

सुभद्रा चुप हो गई। सिद्धेश्वर ने फिर कहा—मैंने अपने जीवन को सुखी बनाने के उद्देश से तुम्हारे साथ विवाह किया था। किंतु अब देखता हूँ कि वह मेरा भ्रम था। वास्तव में मैंने तुम्हारे सुख को मिट्टी में मिला दिया।

आप ऐसा क्यों कहते हैं ?

और क्या सुभद्रे ! मैं तुम्हें पूर्ण रूप से प्रसन्न नहीं रख सकता। जब तुम्हें ध्यान से देखता हूँ, तो अपने जीवन की बहुत-सी घटनाओं का स्मरण हो आता है।

सुभद्रा ने फिर कुछ न कहा। उसने अपने जीवन के

परिवर्त्तन पर एक दृष्टि डाली। बाल्य-जीवन अत्यंत मनो-रम प्रतीत हुआ। घर पर माँ उसे एक भी काम न करने देती थी। किंतु विवाह होने पर पूर्ण गृहस्थी का भार उसे सँभा-लना पड़ रहा था; क्योंकि छोटी बहू प्राय: बीमार ही रहती।

सुभद्रा ने सोचा कि उसका सुख स्वप्न-सम्पत्ति की तरह लुप्त हो गया। विवाह के पूर्व उसने अपने भविष्य की—अपने पति के सम्बंध की—अनेक कल्पनाएँ की थीं; किंतु आज उनमें से एक भी प्रत्यक्ष दिखलाई नहीं देती। उसने पति का जो काल्पनिक चित्र अपने अंतर-पट पर अंकित किया था, वास्तव में सिद्धेश्वर वैसे नहीं थे। उसे चाहिये था—प्रेम का कोई उन्मत्त भ्रमर; तभी वह अपनी प्रेम-तृष्णा को बुझा सकती थी। फिर भी, सिद्धेश्वर को पाकर ही, वह अपने को संतुष्ट रखने की चेष्टा करती थी।

उसने धीमे स्वर में पूछा—पैर दबा दूँ?

सिद्धेश्वर ने कहा—जैसी तुम्हारी इच्छा।

वह पैर दबाने लगी। रात अधिक हो गई थी। कुछ देर में लोग स्वप्नों के देश में भ्रमण करने लगे। रजनी निशाकर से किलोल करने लगी—प्रकृति शांत होकर देखने लगी।

२

दिन दुखदायी होने लगे।

वर्षा-ऋतु में, मार्ग की असुविधा के कारण, सिद्धेश्वर प्रायः घर न आते। सुभद्रा दिन-रात घर के काम-काज में काट देती थी। गाँव में बीमारी फैली थी। सिद्धेश्वर की माँ भी बीमार पड़ी। समाचार सुनकर सिद्धेश्वर को आना पड़ा। दैवयोग से उनपर भी बीमारी ने आक्रमण किया। माँ की अवस्था सुधर गई; उनकी बीमारी बढ़ने लगी। वह स्वयं अपने जीवन से निराश हो गये। गाँव में रोज दो-चार मौतें हो रही थीं।

रात्रि का समय था। सुभद्रा दवा दे रही थी। उनकी आँखें बन्द थीं। सुभद्रा ने जगाया। उन्होंने अधखुली आँखों से देखा, ध्यान से देखते रहे। सुभद्रा ने दवा के गिलास की ओर संकेत किया। उन्होंने धीमे स्वर से कहा—मैं अब न बचूँगा; मुझे विश्वास है—आज मेरा अन्तिम दिवस है सुभद्रा!

सुभद्रा की आँखें बरसने लगीं। उसने धैर्य देते हुए कहा—आप ऐसा न सोचें, बहुत जल्द अच्छे हो जायँगे।

नहीं सुभद्रा, मुझे अपने कथन पर विश्वास है। उस जन्म में जो किया था, उसका फल भोग रहा हूँ—जीवन-भर अशान्ति में था। अब इस जन्म के कर्म को लेकर जा रहा हूँ। मेरे बाद मेरा मान बचाना। और तुमसे क्या कहूँ! मेरे कारण तुम्हारा जीवन नष्ट हो गया। ईश्वर तुम्हें शान्ति दें।

इतना कहकर उन्होंने सदा के लिए आँखें बन्द कर लीं!

अभी रात का ही समय था। सन्नाटा शासन कर रहा था। मृतक की क्रिया बाकी थी। गाँव में हाहाकार मच रहा था। भयानक दृश्य था!

ऐसे समय में सिद्धेश्वर का शव लेकर श्मशान जाना बड़े साहस का काम था। किसीकी हिम्मत न होती। कई बार बुलाने पर भी कोई न आया। अंत में महेश्वर कुछ लोगों को बुला लाये। शव लेकर चले! नदी-तट पर देहाती श्मशान था। एक तो बरसात की गीली लकड़ी, दूसरे—मेघों की निरन्तर झड़ी, तीसरे—हैज़े के प्रकोप से श्मशान की भयंकरता! चिता में नाम-मात्र को आग लगाकर लोग चले आये!

स्त्रियों के साथ सुभद्रा भी उसी समय नदी तक स्नान करने गई। उसकी आँखें मेघों से होड़ लगाये हुई थीं।

बिजली तड़पती थी आकाश में और गिरती थी उसके हृदय पर। उसने बिजली कौंधने पर एक बार देखा—मुर्दों को कुत्ते और सियार घसीट रहे हैं! वह सिहर उठी। उसका सारा शरीर थर-थर काँपने लगा।

रिमझिम बूँदों के साथ हवा छेड़खानियाँ कर रही थी। एकाएक सिद्धेश्वर की नई चिता अन्तिम बार धधककर बुझ गई। सुभद्रा उस प्रकाश को देखकर चौंक पड़ी और चीख मारकर रो उठी। अरे अभी तो सारा जीवन रोने को पड़ा था!

न जाने कौन, नदी के उस पार कुछ दूरी पर, गा रहा था—ऊधो! मन की मन ही माँहि रही!

२

समय की गोद में कई मास खेल गये।

सुभद्रा जैसे दूसरे संसार में चली आई हो। वह बड़े कौतूहल से अपने जीवन के परिवर्तन को देख रही थी। न उसके हाथों में चूड़ी, न मस्तक में रोली, न अधरों में ताम्बूल-राग! पर सचमुच यह सब कुछ न होने पर भी उसकी जवानी फटी पड़ती थी, सौन्दर्य उमड़ा आ रहा था!

सुभद्रा ने देखा, घर के लोग घृणा की दृष्टि से देखते हैं—उसके प्रति किसीकी सहानुभूति नहीं। पड़ोस की स्त्रियाँ कहतीं—जब से आई, घर का नाश हो गया। गाँव के लोग कहते—रूपवती युवती विधवा शत्रु-रूप है!

विचित्र परिस्थिति थी! एक वृद्धा ने प्रस्ताव किया कि सुभद्रा के केश कटा देने चाहिये! यह सब सुन-सुनकर बेचारी सुभद्रा बार-बार अपने जीवन को धिक्कारती। सोचती—पूर्व जन्म का कर्मफल भोग रही हूँ।

दिन किसी तरह बीतते रहे।

नित्य नवीन कष्ट आने-जाने लगे। घर में कलह भी बढ़ती ही गई। वह एकान्त में बैठकर अश्रुपात करती। जब बीती बातों पर ध्यान जाता, तो हृदय की धड़कन बढ़ने लगती। अंत में विचार-शून्य होकर मरने के लिये तैयार हो जाती; किन्तु तत्काल ही अपनेको सँभालकर सचेत हो जाती।

संसार परिवर्त्तन से खेल रहा था।

अभागी हिंदू-अबला—सुभद्रा—अपने भविष्य पर विचार कर रही है। चंद्रमा को देखती है, देखकर फिर देखती है! जी नहीं भरता। उसने हँस दिया। जीवन भी हँस पड़ा। संतोष की किरणें आकाश पर बिखर गईं।

रजनी की निस्तब्धता क्षितिज से किसीको अपनी ओर खींच रही थी। तारे टूट रहे थे। वह खिड़की पर थी। कोई भूली बात याद आ गई, सोचने लगी। तब तक कानों में एक हलकी गूँज दौड़ गई। ध्यान से सुना, कोई अलाप ले रहा है! धीरे-धीरे स्पष्ट होकर वह स्वर सुनाई दिया—'यह ऋतु रूठ रहन की नाहीं!'

गायक की ओर ध्यान जाता है। मन-ही-मन विचार करती है—चंद्रधर बड़ा विचित्र जीव है। सदैव मलार ही गाता है, जीवन के भयङ्कर दिनों में भी मलार ही! न जाने इसके हृदय में किस आनंद-वीणा के तार बजते रहते हैं!

सुभद्रा, चिक की तीलियाँ तोड़कर—उसीमें से, कई बार चंद्रधर की मस्ती के ढङ्ग देख चुकी थी। वह सामने के चबूतरे पर बैठकर भङ्ग घोंटता था; फक्कड़ था ही, रुपये-पैसे की परवा न थी। तोभी सदैव प्रसन्न रहता। अपने रंग में मस्त इधर-उधर इठलाता फिरता। बरसाती संध्या की गहरी लाल किरणों को बादलों पर घूमते हुए खूब देखता। रजनी जब निशाकर से क्रीड़ा करती, तब हृदय खोलकर गाने लगता। गाते-गाते उन्मत्त हो जाता। आँखों से आँसू उमड़ने लगते। यही उसका वशीकरण था।

एक दिन, चिक उठी रह जाने के कारण, उसने सुभद्रा के अल्हड़ यौवन को खूब देखा। सुभद्रा अनमनी-सी होकर जैसे उसे अपनेको दिखा रही थी—सहसा दृष्टि फेरकर देखा, आँखें चार हो गईं। फिर, क्षण-भर में ही गम्भीर बनकर आकाश की ओर देखने लगी। चन्द्रधर के हृदया-काश में बिजली दौड़ गई।

श्रावण का सोमवार था—प्रदोष का व्रत। सुभद्रा पास ही के शिव-मन्दिर में दर्शन करने गई। संध्या बीत रही थी। साथ में एक महरी थी। शिव-दर्शन करके उसने एक बार 'सर्चलाइट' वाली आँखों से देखा—चन्द्रधर पास ही के एक घने पेड़ के नीचे चुप खड़ा था। उसकी मस्ती मानों शिथिल-सी हो गई थी। वह किसी विचार-धारा में बेसुध बहा जा रहा था।



इस बार गाँव में फिर बीमारी फैली; किन्तु अगले वर्ष की भाँति नहीं। फिर भी कई आदमी मर चुके थे। महेश्वर अपनी स्त्री को लेकर ससुराल चले गये थे। अपने सास के साथ सुभद्रा ही घर में रह गई थी। अवसर मिलने से भावुकता बढ़ने लगी। जब गाँव-भर में

हाहाकार हो रहा था, तब वह प्रेम की उपासना कर रही थी।

आज भोर से ही वह बड़ी बेचैन थी। रह-रहकर हृदय दलक उठता था। आधी रात को उसने देखा—सास सो रही थी। चुपचाप, धीरे-धीरे, द्वार के पास आई। बार-बार रुककर धीरे से द्वार खोला; बड़े साहस से पैरों को चौखट के बाहर रक्खा। सीधे मंदिर तक पहुँच कुछ दूर पर खड़ी हो गई। किसीकी कराहने की ध्वनि आ रही थी। वह भय से रोमांचित हो उठी।

आहट पाकर चंद्रधर ने बड़े धीमे स्वर में कराहते हुए पूछा, कौन है? वह बोली, मैं हूँ।

चंद्रधर सोचने लगा। सुभद्रा उसका स्वर पहचान गई। पूछा—कैसी तबीयत है?

अच्छी नहीं है। भला इस समय तुम यहाँ कहाँ?

यों ही आ गई; अब जाती हूँ।

चंद्रधर ने जैसे एक सपना देखा!

सुभद्रा आगे बढ़कर एक पक्के कुएँ पर बैठ गई। एक साथ अनेक विचार-धाराएँ उसे बहा ले चलीं। उसने लम्बी साँस खींचकर एक बार आकाश की ओर देखा—

चन्द्रदेव की शुभ्र कान्ति क्षीण हो गई थी। वह बार-बार यही सोचती—उन्होंने कहा था, 'मेरा मान बचाना'!

उसका हृदय असीम आकांक्षा के साथ उदासीनता की नींद से चौंक उठा। उसने हल्की साँस भरकर कहा—अवश्य मानूँगी!

हृदय ने घबराकर पूछा—फिर क्या उपाय है?

उसने मन-ही-मन-कहा—अब मेरे लिये संसार में कहीं स्थान नहीं है। इस जीवन से छुटकारा पा जाने में ही सुख है।

जैसे अपनी मनोवृत्तियों पर से उसका विश्वास उठ रहा था। छलकता हुआ यौवन बार-बार उसका मुख जोहता था। उसने झुककर बड़े साहस से कुएँ में देखा। चारों तरफ सायँ-सायँ हो रहा था। लालसाएँ उसे पीछे ढकेलना चाहती थीं। किन्तु निराशा और ग्लानि उसे आगे ठेल रही थीं।

क्षण-भर में सब साहस बटोरकर सहसा कूद पड़ी! जोरों से धमाके का शब्द हुआ। कोई उसे सुन न सका। स्वर्ग में बैठे सिद्धेश्वर भी न देख सके कि उनके अन्तिम शब्दों का उसने कहाँ तक पालन किया!

५

रजनी अपने आँचल से प्रकाश को छिपाये बैठी थी। चाँद को बादलों ने कारावास में डाल दिया था। प्रभात की सफ़ेदी बड़ी उत्सुकता से झाँक रही थी। पाँच बज चुके थे। चंद्रधर का ज्वर उतर गया था। उसे बड़ी प्यास लगी; किन्तु पानी पिलाने वाला कोई न था! उसने छलछलाई आँखों से लोटा-डोरी की ओर देखा। फिर कुएँ से पानी लेने के लिए चल पड़ा।

कुएँ में रस्सी डालकर कई बार पानी निकालने का प्रयत्न किया; किन्तु लोटे में पानी भरता ही न था! उसने बड़े आश्चर्य से देखा—कुएँ में एक शव पड़ा था!

हाथ से रस्सी छूट गई! रोंगटे खड़े हो गये। आवाज दी, लोग जुट पड़े। शव निकाला गया।

चंद्रधर अभी तक प्यासा बैठा था। शव देखते ही उसकी आँखों के सामने अंधकार छा गया। वह थरथरा-कर उठा और सम्हलते-सम्हलते प्यासा ही चला गया!



पूर्णिमा

१

शरत्-पूर्णिमा थी। क्षितिज में गुब्बारे के समान चन्द्रमा ऊपर चढ़ रहा था। मैं जाह्नवी-तट पर बैठा हुआ चन्द्रदेव की तरफ एकटक देख रहा था। गंगा चाँदी की बारीक चादर-सी हिल रही थी। हिलती हुई लहरों पर चन्द्रदेव की किरणें अपूर्व सुन्दर दीख पड़ती थीं। कभी-कभी प्रकाश में बायस्कोप के दृश्य की तरह छोटी-छोटी नावें इधर-उधर तैरती हुई दिखाई देती थीं।

मैं कुछ दुखी था, एकान्त में पत्थर के एक गुम्बद पर

बैठा हुआ कुछ विचार कर रहा था। संसार की दशा पर, प्रेम पर, सामाजिक बन्धनों पर, भावना दौड़ लगा रही थी। एकाएक मुझे एक स्मृति आई—आज भी शरत्पूर्णिमा है, ठीक सात वर्ष हुए! सब दृश्य मेरी आँखों के सामने फिर गये।

दिन बीतते कितनी देर लगती है? देखते-देखते संसार की सब बातें बदल जाती हैं! जवानी चली जाती है, बुढ़ापा आ जाता है, रूप नष्ट हो जाता है। मित्र, सम्बन्धी सब छूट जाते हैं, यही इस विश्व की लीला है।

कृष्ण की स्मृति ने उस समय मुझे व्याकुल बना दिया। मैं अधीर होकर रोने लगा। रोने के पश्चात् हृदय कुछ शान्त हुआ। मैं आकाश की ओर देखकर कहने लगा—अभागे कृष्ण! क्या तुमने धोखा खाया? तुमने इस संसार को भलीभाँति नहीं देखा! केवल प्रेम की एक झलक थी, जिसमें पड़कर तुमने अपना सब-कुछ खो दिया। किन्तु क्या वह वास्तविक न था?

२

कृष्ण बड़े स्वच्छ और शुद्ध हृदय का युवक था। उससे मेरी बड़ी मित्रता थी। वह अपने मन की बात मुझसे

कहकर अपने हृदय का बोझ हल्का कर लेता था। चाँदनी रात में मैं और कृष्णा इसी पत्थर के गुम्बद पर आकर कभी-कभी बैठते। वह अपनी प्रेम-कहानी सुनाता और मैं चुपचाप सुनता। उसका प्रेम 'हीरा' से कब आरम्भ हुआ था, यह तो मुझे मालूम नहीं; किन्तु जिन दिनों वह प्रेम में पागल था, उन दिनों वह अपने हृदय की बातें मुझसे नित्य कहा करता था। पहले-पहल, उस दिन, उसने अपनी कहानी इस तरह कहा—देखो जीवन! तुम मुझसे प्रायः पूछा करते हो कि तुम उदास क्यों रहते हो। मुझे इस संसार में किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं है, किन्तु फिर भी मैं दुखी रहा करता हूँ। मैंने जान-बूझकर अपना जीवन दुःखमय बना लिया है। अब मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगता। एक तुमसे कभी-कभी मिल लेता हूँ; नहीं तो मुझे किसीसे मिलना तक पसन्द नहीं है।

इतना कहकर वह विचार में लीन हो गया। मैं चुपचाप उसकी तरफ देख रहा था। वह फिर कहने लगा—मैं हीरा को कितना चाहता हूँ, यह मैं किन शब्दों में प्रकट करूँ? मगर हाँ, इतना मैं कह सकता हूँ कि संसार का सब सुख मैं उसके लिए त्याग सकता हूँ। अभाग्य! उसका

मिलना बड़ा कठिन है। किन्तु न जाने क्यों, मैं दिन-रात उसीके विचार में लीन रहता हूँ।

मैंने सहानुभूति प्रकट करते हुए कहा—वह कौन है?

कृष्णा ने कहा—जीवन! वह मेरे हृदय-मन्दिर की देवी है। यहीं रहती है। उसकी सुन्दरता विचित्र है। आँखों में उसके जादू का-सा असर है! अच्छा, तुम्हें कभी दिखला दूँगा।

मैंने पूछा—क्या उसका विवाह हो गया है?

कृष्णा ने कहा—हाँ, उसका विवाह हो गया है, किन्तु नहीं के बराबर; क्योंकि वह विधवा है!

मैंने कहा—तब तो तुम्हारा अन्याय है।

कृष्णा ने कहा—परन्तु मैं × × × × ब्याह करने के लिए प्रस्तुत हूँ।

मैंने कहा—तब तो तुम पके सुधारक हो।

कृष्णा ने गम्भीर होकर कहा—यह तुम्हारे हँसने की जगह नहीं है; क्योंकि मैं उसे केवल विलास के लिए नहीं चाहता। दिल्लगी करते हो! मेरे ऊपर जो बीत रही है, वह मैं ही जानता हूँ। तुम उस दर्द को क्या जानोगे?

मैंने कहा—अच्छा, हीरा से तुमसे मुलाकात कैसे

होती होगी ? उसने कहा—हीरा के मकान के सामने मेरे एक सम्बन्धी रहते हैं। महीने-दो-महीने पर जब किसी काम से मैं उनके यहाँ जाता हूँ, हीरा को भी देख लेता हूँ। उससे दो-चार बात बड़ी कठिनाई से हो जाती है। कारण, उसकी बड़ी देखरेख रहती है। किन्तु मैं नित्य ही उसी रास्ते से आता-जाता हूँ, और एक बार उसका दर्शन मिल जाता है। उस दिन जब गया था, तो उसने एक दोहा लिखकर फेंक दिया था, जो दिन-रात चुभा करता है—

हम पंछी परबस भये, बिके पराये हाथ
हाड़-माँस कतहूँ रहे, प्रान तिहारे साथ

कृष्णा ने इतने करुण शब्दों में यह दोहा कहा—मानों ज्ञात होता था कि इसका एक-एक अक्षर उसके अन्तस्तल पर अङ्कित है। मेरे हृदय में भी यह चुभा। उसी दिन से हीरा के प्रति मेरी सहानुभूति हुई।

सन्ध्या का समय था। सूर्य बादलों की जाली के चिक में से छिपकर चोरी से देख रहा था। कई दिनों के बाद कृष्णा मिला था। मैंने कहा—क्यों, मर्ज बढ़ता ही गया, ज्यों-ज्यों दवा की ?

आज उसके मुँह पर हँसी न थी। उसने कहा—भाई, आज-कल बड़ी बुरी दशा है। खैर, मैंने तो मान लिया है कि प्रेम ईश्वर है और प्रेम ही स्वर्ग है।

वास्तव में अब कृष्णा की दशा खराब हो चुकी थी। एक तो वह दुबला-पतला था ही, दूसरे ऊपर से दिन-रात की चिन्ता! उसने कहा—चलते हो घूमने? मैंने कहा—चलो!

चलते-चलते एक स्थान पर वह रुका; एक तरफ आतु-रता से देखने लगा। मैंने देखा, सामनेवाले मकान में एक स्त्री थी। उसकी अवस्था बीस वर्ष के करीब थी। अपूर्व सौंदर्य था। वह कृष्णा की तरफ तृषित नयनों से देख रही थी। कृष्णा वहाँ से आगे बढ़ा। उसने मुझसे कहा—देखो, यही मेरी जीवन-सर्वस्व है! मैं तो चुपचाप चला जा रहा था। मन में हीरा और कृष्णा के प्रेम पर विचार कर रहा था कि बेचारे एक दूसरे के लिए कितने दुःखी हैं।

उस दिन कृष्णा अपने घर चला गया, और मैं अपने घर चला आया। इसी तरह कई मास बीत गये। मैं और कृष्णा प्रायः मिलते और कभी-कभी हीरा को दूर से देखने के लिये भी जाते। हीरा मुझे भी अच्छी तरह पहचान गई

थी कि यह कृष्णा के मित्र हैं। एक दिन, मैं कृष्णा के घर गया। वह अपने कमरे में एक कुर्सी पर बैठा था। मैं भी उसके पास बैठ गया। उसने कहा—आज अच्छे मौके पर आये। लो, तुम्हारे लिये उपहार आया है। मैंने कहा—कहाँ से?—कैसा? उसने एक बंडल मेरे सामने रख दिया—उसमें हाथ के बनाये हुए दो सुन्दर रूमाल थे और साथ में एक पत्र था; एक रूमाल पर सुई से लिखा था—'प्राणनाथ!' और दूसरे पर कुछ नहीं। कृष्णा ने कहा—पत्र को पढ़ो, तब मालूम होगा। आरम्भ में ही मैंने यह शेर पढ़ा—

छूट जावें ग़म के हाथों से जो निकले दम कहीं
ख़ाक ऐसी जिन्दगी पर, हम कहीं औ तुम कहीं

प्राणनाथ! मैं आपके लिए दिन-रात व्याकुल रहती हूँ। मेरी दशा दिन-पर-दिन बिगड़ती जाती है। घर का कुछ काम-काज भी नहीं करती हूँ। मैं आपके लिए सब तरह से तैयार हूँ। मैं आपकी दासी हूँ। विवाह होना तो असम्भव है; क्योंकि मेरे पिता यह कभी स्वीकार न करेंगे। किंतु मैं आपके साथ चलने को तैयार हूँ; अब जैसा आप कहें, मैं करूँ। दो रूमाल अपने हाथ का बनाया हुए

भेजती हूँ—एक आपके लिए और दूसरा आपके मित्र के लिए।

आपकी दासी—'हीरा'

पत्र पढ़कर मैं कृष्णा की तरफ़ देखने लगा। उसने कहा—देखो जीवन! मैं इस तरह हीरा को घर से निकालकर नहीं ले जाना चाहता। इसमें बदनामी है; उसको कलङ्कित करना है। और फिर, समाज में उसका मान न रह जायगा। हाँ, यदि विवाह हो जाता, तो मैं प्रसन्नतापूर्वक उसको ग्रहण करता। किंतु उसके पिता सनातनधर्मी हैं। वह इसे कभी स्वीकार नहीं करेंगे; अतएव अब उसका मिलना असम्भव है। खैर, अब मैं किसी तरह अपना जीवन व्यतीत कर लूँगा। पर, हाय! मैं उसके बिना कैसे रहूँगा। उसका वियोग नहीं सहा जाता। मैं क्या करूँ जीवन?

मैंने देखा, विचित्र परिस्थिति है! न तो कृष्णा हीरा के ध्यान को हटा ही सकता है और न उसे स्वेच्छाचारिता से ग्रहण ही कर सकता है! मैंने कहा—कृष्णा, हीरा का विचार त्याग दो, तभी तुम्हें सुख मिलेगा।

कृष्णा ने कहा—जीवन! तुम मेरी हालत नहीं जानते।

तुमने अभी ऐसा दर्द नहीं पाया है; इसलिए तुम इसे नहीं समझ सकते। मेरे जीवन का अन्त हो जाय, किन्तु मैं उसे नहीं भूल सकता।

मैंने फिर कुछ उत्तर नहीं दिया, क्योंकि मैं जानता था—प्रेम का उन्माद भयङ्कर होता है !

दिन-पर-दिन बीतने लगे। प्रेम-चिन्ता से ज्यों-ज्यों कृष्णा का शरीर दुर्बल होता था, हीरा को कलंकित न करने के लिए उसका मन दृढ़ होता जाता था; परन्तु वह दृढ़ता मृत्यु के आघात को सहन करने के लिए पर्याप्त नहीं थी। उसके शरीर पर पूर्ण रूप से क्षय का अधिकार हो गया। मृत्यु के पंजे से वह न बचा, भरी जवानी में ही चल बसा !

बरसात के बाद शरद्-ऋतु की पूर्णिमा—यही पूर्णिमा थी !! उस रोज लोग दीये जलाकर भागीरथी को बहाते थे। मैंने कृष्णा का शव जलाकर जाह्नवी को समर्पित किया, और अपने गर्म-गर्म आँसू को जाह्नवी के शीतल जल में मिलाकर घर लौट आया।

आज ठीक सात वर्ष हुए !

इस पूर्णचन्द्र के प्रकाश में, उस घटना का रेखा-चित्र,

आकाश के नील पट पर अब भी मेरे नेत्रों के सामने है। एक वह पूर्णिमा थी, जिस दिन कृष्णा ने अपनी प्रेम-कहानी कही थी; दूसरी वह थी, जिस रोज उसकी प्रेम-कहानी का अन्त हुआ; और तीसरी पूर्णिमा आज है !!—मैं बैठा हुआ यही सोच रहा था।

३

मेरी समाधि भङ्ग हुई। मैं उठने ही लगा था कि देखा—सामने मलिन वेश में एक स्त्री खड़ी थी; साथ में तीन वर्ष का एक बालक था। स्त्री के केश बिखरे हुए थे। जवानी ढल रही थी, किन्तु उसके नेत्रों से यह ज्ञात होता था कि वह किसी अच्छे वंश की है। मेरी तरफ वह बढ़ी आ रही थी। मेरे सामने आकर खड़ी हो गई। कुछ देर तक वह चुप थी। मैं भी आश्चर्य से उसकी तरफ देख रहा था। उसने काँपते हुए स्वर में कहा—मैं आपसे कुछ कहना चाहती हूँ—

इतना कहते-कहते उसके नेत्रों से अश्रुपात होने लगा। मुझे बड़ा कौतूहल हुआ। मन में सोचने लगा—देखने में यह एक शरीफ घर की मालूम पड़ती है। पर, इस तरह

रात में इधर-उधर क्यों घूम रही है ? मैंने उससे पूछा—तुम्हें क्या कहना है, कहो; मुझसे क्या काम है ? उसने कहा—मैं बड़ी दुखी और अभागी हूँ। संसार में मेरा कोई सहायक नहीं है। अपनी किस्मत को रोती हूँ। आज बहुत साहस करके घर से निकली हूँ। इधर गङ्गा-माँ के तट पर इसी लिए आई हूँ कि कोई सहायक मिल जाय।

मैंने समझा कि होगी कोई भिखारिन—बात बनाकर कह रही है। उसी समय चन्द्रदेव के उज्ज्वल प्रकाश में उसका मुँह चमक पड़ा, और मुझे वह परिचिता-सी जान पड़ी। मुझे खयाल आया कि इसे मैंने कहीं देखा है, किन्तु कहाँ देखा है ?—ध्यान नहीं। क्षण-भर में ही उसपर मेरा विश्वास हो गया। मैंने कहा—मुझसे जिस प्रकार की सहायता तुम चाहो, मैं देने को तैयार हूँ। मेरी सहानुभूति से उसका हृदय उमड़ पड़ा। उसने कहा—मेरे पति घर में इस समय मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए हैं; मेरा इस संसार में अब और कोई नहीं है—हाय ! मैं किससे अपना दुःख कहूँ !

मैंने कहा—चलो, मैं तुम्हारे साथ चलता हूँ। जहाँ तक हो सकेगा, मैं तुम्हारी सहायता करूँगा।

मैं उसके घर पहुँचा। उस समय एक पुरुष, जिसकी अवस्था तीस वर्ष की होगी, एक शय्या पर पड़ा था। यह ज्ञात होता था कि वह बहुत दिनों से रोग-ग्रस्त है। शरीर एकदम पीला पड़ गया था; केवल हड्डी दिखलाई देती थी। उसकी आखिरी साँस चल रही थी। वह बोल न सकता था, कभी-कभी आँख खोलकर देख लेता था। हम दोनों उसके सामने खड़े थे। मेरा हृदय फटा जाता था। मुझे बार-बार कृष्णा की याद आती। वह उस बालक की तरफ देखता और फिर आँख बन्द कर लेता। देखते-देखते उसके प्राण-पखेरू उड़ गये!

वह स्त्री विलाप कर रही थी। वह रो-रोकर कहने लगी—हे ईश्वर! मुझे अब संसार में सुख नहीं है। मैं पतिता हुई। मैंने सुख की अभिलाषा की थी। दीन से गई, दुनिया से गई—अब मेरा कौन है? मैं अनाथा हूँ, समाज से अलग हूँ, मेरा अब कौन सहायक है? हत्यारा समाज मुझे फाड़ खायगा! समाज मुझसे घृणा करेगा, परन्तु मेरी सहायता नहीं करेगा। मेरे कष्टों का कूल-किनारा नहीं। हे भगवन्! जिसके बल पर मैंने सबका तिरस्कार किया, वह अवलम्ब भी मुझसे छीन लिया गया; मैं कहीं की न रही!

मैं उसकी सब बातें सुन रहा था। मेरा आश्चर्य बढ़ता ही गया। मैं उसका पूर्ण वृत्तांत जानना चाहता था। एकाएक मुझे कृष्णा और हीरा का स्मरण हो आया। हीरा का पता नहीं। मैंने कृष्णा की मृत्यु के बाद कई बार विचारा कि हीरा की खोज-खबर लूँ, परन्तु साहस न हुआ। मुझे अपने चरित्र पर सन्देह हो रहा था, और अपनी निर्बलता को मैं भली प्रकार जानता था; इसलिए मैं उससे अलग ही रहना चाहता था। यदि समाज ने ऐसी ही कठोरता उसके साथ भी की हो—यदि वह भी इसी स्त्री के समान बिना अवलम्ब के ठोकरें खा रही हो तो? क्या कृष्णा के विचार से उसके प्रति मेरा कोई कर्त्तव्य नहीं?

मैं चिन्ता-निमग्न हो गया। अकस्मात् अभागिनी विधवा की रोदन-ध्वनि तीव्र हो गई। वह तीन वर्ष के बच्चे को गोद में लेकर जोर से रोने लगी। मैं आपे में आया। मैंने कहा—देवि! इस संसार की लीला यही है। जिसका जन्म होता है, उसीकी मृत्यु होती है—एक-न-एक दिन यह शरीर नष्ट हो ही जाता है। धैर्य धरो, ईश्वर सबका सहायक है। क्या तुम्हारे कोई सम्बन्धी इत्यादि नहीं हैं?

स्त्री ने करुण शब्दों में कहा—नहीं! मैं समाज में

कलंकिता हूँ। प्रेम के कारण मैंने घर छोड़ा, सब सुख छोड़ा। वह एक उन्माद या तूफ़ान था, जिसने मुझे आज इस दशा को पहुँचाया। मैं विधवा थी। घर छोड़कर इन्हीं के साथ आई थी—आज छः वर्ष से कुछ अधिक हुए। धन-दौलत सब नष्ट हो गया। यह प्रायः बीमार ही रहने लगे, सब काम-काज छूट गया, और आज यह दशा हुई!

मैंने फिर कुछ प्रश्न नहीं किया। कारण, मृत शरीर की अंतिम क्रिया बाकी थी। मैंने शीघ्र प्रबन्ध कर लिया, और उस अज्ञात युवक के शव को लेकर मैं श्मशान पर गया। चिता जलने लगी। देखते-देखते शरीर खाक में मिल गया!

मैं बड़ा दुःखी हो रहा था। संसार से घृणा और निराशा हो रही थी। मुझे संसार एक नाट्यशाला-सा दिखाई पड़ने लगा। कृष्णा की स्मृति और इस विधवा की दुर्दशा के विचारों से मैं अश्रुपात कर रहा था। उस स्त्री ने मेरे सामने आकर कहा—आप क्यों रो रहे हैं?—वह भी रो रही थी, परन्तु उसे मेरे रोने में आश्चर्य हो रहा था।

मैंने कहा—मैं आज दूसरी बार श्मशान में आया हूँ।

इससे पहले मैं अपने अभिन्न-हृदय प्रिय मित्र 'कृष्णा' के शव को इसी श्मशान में लाकर फूँक चुका हूँ। आज उसी-की स्मृति ने मुझे विकल कर दिया है; इसी लिए रो रहा हूँ।

कृष्णा का नाम सुनकर वह मूर्त्ति के समान खड़ी हो गई। उसकी दशा ही कुछ बदल गई। एक ठंढी आह खींचकर उसने कहा—हाय ! मेरे ही कारण तो उनकी मृत्यु हुई। हे ईश्वर ! मुझे बचाओ, मैं बड़ी पापिनी हूँ, अभा-गिनी हूँ !

मैं उसकी तरफ ध्यान से देखने लगा—यह हीरा तो नहीं है ? किंतु हीरा में और इसमें बड़ा अन्तर है। रूप नष्ट हो चुका था, आँखों में गढ़े पड़ गये थे—बड़ा परि-वर्त्तन था !

मैंने कहा—हीरा !

उसने मेरी तरफ आश्चर्य से देखते हुए कहा—आप कौन हैं ? मैंने कहा—कृष्णा का दोस्त 'जीवन'।

यह सुनते ही उसने कहा—हे ईश्वर ! अब मेरा अन्त कर दो !

मुझे मालूम हो गया—वह हीरा ही थी !

मैंने बालक को गोद में लेकर कहा—हीरा ! मेरे लिए यही कृष्णा है। तुम घबराओ मत। मैं तुम्हारी सहायता के लिए अभी जीवित हूँ। 'कृष्णा' के नाम पर मैं तुम्हारी हर तरह मदद करूँगा। मुझे विश्वास है कि इससे वह निर्मल प्रेमी आत्मा जहाँ होगी, प्रसन्न होगी।

हीरा का कंठ रुँधने लगा। वह बैठ गई। उसकी गढ़े में धँसी हुई आँखों से जलधारा बह रही थी। वह दुःखिनी हीरा मेरे चरणों के नीचे पड़ी थी, बालक गोद में था।

शरत्-पूर्णिमा के अस्त होनेवाले चन्द्रमा में जैसे कृष्णा की मूर्त्ति दिखाई दी—उसके मुख पर सन्तोष और करुणा थी। हल्की चाँदनी उषा की सफ़ेदी में विलीन हो रही थी।



भूली बात

१

जवानी के सरस दिनों में, किसीके ऊपर अपना सर्वस्व निछावर कर देने की, अथवा उसपर मर मिटने की, कल्पना कितनी प्यारी और सुखद होती है ! दुनिया में लोग इसे पागलपन समझते हैं; लेकिन कौन ऐसा है, जिसने अपने जीवन में एक बार इसका अनुभव न किया हो ?

एक वह दिन था, जब कमल ने कहा था—तारा ! इस जीवन में क्या तुम्हारे प्यार का मूल्य चुका सकूँगा ?

संसार हँसता है, हँसने दो; समाज गालियाँ देता है, देने दो; तुम मेरी हो, मैं तुम्हारा हूँ! यह कठोर सत्य है। विश्व की सारी शक्ति इस सम्बन्ध को न छुड़ा सकेगी।

यौवन की अतृप्त प्यासी तारा ने मुस्कुराकर उत्तर दिया था—मुझे तुम्हारा विश्वास है।

दिन बीतने लगे।

बड़ा सुख था। दोनों एक दूसरे की तरफ़ देखते ही रह जाते, एक थाली में बैठकर भोजन करते; किसी तरह का भेद-भाव न था।

उस दिन सन्ध्या-समय, कमल तारा को साथ लेकर मन बहलाने के लिए निकला था। जन-पथ के कोलाहल से भय था। वह निर्जन मार्ग की ओर बढ़ा। बहुत दूर निकल गया था।

एक ऊँचे करारे पर चढ़ते हुए कमल ने कहा—तारा! यहाँ से गिरने पर हड्डियों का पता नहीं चल सकता!

तारा ने भयभीत होकर कहा—बड़ा विकट स्थान है!

प्रेम की क्षणिक भावुकता में कमल ने कहा—यदि हम दोनों आलिङ्गन करते हुए कूद पड़ें तो.

तारा चुप थी, जैसे किसी विचार में पड़ गई हो।

"बोलो, तुम प्रस्तुत हो?"

"तुम्हारे साथ मरने में भी मुझे सुख है। क्या मेरी परीक्षा लेना चाहते हो?"

"नहीं, तारा! मुझे स्वयं अपने मन की दृढ़ता पर विश्वास नहीं है।"

कमल तारा की ओर देखने लगा। क्षण-भर के लिए उस समय मृत्यु की कल्पना भी बड़ी प्यारी लगी।

दोनों घर लौटे।

आकाश के रङ्गीन चित्रों को बटोरकर सुन्दरी सन्ध्या खिसक गई थी।

२

वर्ष के बाद वर्ष आए और गए!

परिस्थितियों ने चलभव का जाल बनाया। ऐसा जाल, जिसमें फँसकर मनुष्य न-जाने कहाँ-से-कहाँ चला जाता है।

सुख, विलास, ऐश्वर्य से भरे संसार को कोई नफ़रत की नज़रों से क्यों देखता है? पागल आँखें जिन्हें देखने को तरसती रह जाती हैं—वही आँखें—एक दिन ऐसा

आता है, जब पलकें बन्द कर उनसे दूर भागने की चेष्टा करती हैं।

उस मधुर राग से जी भर जाता है, तबीयत ऊब उठती है। जो कुछ भी हो, हम मिलकर भी अपनेको दूर रखना चाहते हैं।

विश्व की सारी शक्ति भी जिसे नहीं छुड़ा सकती थी, कमल अपने-आप उसी बन्धन को तोड़ डालता है। तारा की जिन बातों पर वह मुग्ध था, उन्हीं से अब घबड़ा उठा।

कायर आदमी अपने ऊपर जिम्मेदारी का बोझ नहीं [illegible]ाना चाहता। वह अपने निश्चय पर दृढ़ नहीं रहता। वह कल्पनाओं का दास है। कमल भी ऐसे ही लोगों में था।

२

शराब की बेहोशी से जैसे उठकर कोई रात की बीती को सोचता है, ठीक वही दशा तारा की थी। ओह! [illegible] कितना महँगा हो गया था।

उस पवित्र प्रेम के दम भरनेवाले भाव, अब [illegible] [illegible]यों से बहने लगे। काले हृदय में स्मृति की [illegible]

एक-दो रेखाएँ थीं, जैसे परखने में कसौटी पर स्वर्ण की रह जाती हैं।

तारा बैठी सोचा करती है। दीन-दुनिया से वह ठुकराई हुई है। उसका कोई नहीं है। संसार में कौन किसका होता है? किन्तु तारा को इतनी फ़ुर्सत कहाँ कि वह इस-पर विचार कर सके।

उसके प्रेम के आँगन में आग बरस पड़ी। जलन में बड़ी मधुरता है, आह है, बेचैनी है, दर्द है!

अविश्वास की गहरी खाई में तारा को अकेला छोड़कर कमल चला गया।

ऐसा क्यों हुआ? इसका विस्तृत वर्णन करना व्यर्थ है; क्योंकि तारा-जैसी भटकनेवाली स्त्रियाँ प्रायः संसार की आँखों के सामने आ जाया करती हैं।

४

बहुत समय बीत गया। पता नहीं, कमल अगर जीवित होगा, तो उसकी जवानी ढल गई होगी।

तब से अब तक कितना परिवर्तन हो गया।

तारा, बैठी हुई घाट-किनारे माँग रही थी भीख!

और सोच रही थी—अपनी सुनहरी जवानी की बातें! कैसी विडम्बना थी! वे बातें उसे क्यों याद आईं? इसका भी एक कारण था। अपने सुख के दिनों में कमल की गोद में सिर रखकर, ऊपर देखती हुई, कमल की आँखों से आँखें मिलाकर, वह प्रायः गाया करती—

आँखों में समा जाना,
पलकों में रहा करना।
दरिया भी इसीमें है,
मौजों में बहा करना।

आज पेट के वास्ते, कुछ दानों को जुटाने के लिए, वही गीत, घाट पर बैठी, वह गा रही थी।

गाते-गाते रुककर वह सोचने लगी—अपने विलास के स्वप्न! सामने उसके कपड़े के टुकड़े पर कुछ चावल और पैसे पड़े थे।

माला-फूल से सजी हुई, चाँदी की डोलची हाथ में लिये हुए, एक अधेड़ भक्त पुरुष, गंगा-स्नान करके मन्दिरों में दर्शन करने आ रहा था।

ठिठककर उस आधे गीत को अपने मन में सोचने [illegible]।

भगवान् की माया-ममता का उस गाने में कोई चिह्न

न था। फिर भी भक्तराज की आँखें न-जाने क्यों भर आईं।

चुपचाप एक चवन्नी—चाँदी का एक गोल टुकड़ा—उसी फटे कपड़े पर फेंकते हुए, वह बहुत जल्दी से आगे बढ़ गया; किन्तु, बढ़ते ही राह में खड़ी हुई एक सीधी गाय से टकराते-टकराते बच गया। शायद कोई 'भूली बात' सोचने लगा था।

वह लौट आया। सामने से देखने का साहस न हुआ—कतराकर, बगल में खड़ा होकर, तारा को पहचानने की कोशिश करने लगा। और, तारा अभी चवन्नी देनेवाले की दयालुता पर विचार कर रही थी। उसने देनेवाले की पीठ पर सिल्क की चादर तो देख ली थी, चेहरा नहीं देखा था। वह घूमकर देखने लगी।

वह कहना ही चाहती थी कि 'भगवान तुम्हारा भला करें'; किन्तु उसे भी कोई भूली बात याद आ गई। उसने असीस न दिया! न दिया!!!



अभिनेता

१

प्रेम की लहरें आलिंगन कर रही थीं ! वह अपनी हँसी में संसार का एक सुनहला परदा देखता था। जीवन का अल्हड़पन सुखी जीवन की आशाओं का रंग-बिरंगा जाल बना रहा था। हृदय की चुहल परिहास कर रही थी। उस हँसी में साम्राज्य-विजय का अभिमान था, और उस रोने में—एक अबोध शिशु की सरल सिसकियाँ खेल रही थीं।

उसे जीवन की बड़ी ममता थी। ऐश्वर्य की आकांक्षा वासना के सिंधु में उन भीषण लहरों के साथ [illegible]

करने के लिए प्रस्तुत थी। उसने समझा, यही समय है। देखा, सुंदरी पुष्पों का एक हार गूँथने में व्यस्त है। गर्व की मस्तानी हँसी में वह खिलखिला पड़ा। उसे अपनी सफलता पर आश्चर्य था।

उसने कहा—"क्यों, जीवन का यही अमूल्य समय है न ?"

सुंदरी अपलक नयनों से देखने लगी।

"बोलो ? चुप क्यों हो ?"—युवक ने पूछा।

"सोचती हूँ, इतना सुख बटोरकर क्या हम लोग इस संसार में सुखी रह सकेंगे ?"

"इसमें तुम्हें संदेह क्यों हो रहा है ?"

"संसार की ओर देखकर।"

"संसार से संबंध क्या ?"

"जैसा कहो।"

"मैं तो अपना एक छोटा-सा संसार तुम्हें ही समझता हूँ।"

"और मैं ! तुम्हें अपने जीवन के अंतर-तम प्रदेश के अंधकार की सीमा के पास प्रकाश की एक उज्ज्वल रेखा समझती हूँ।"

"छाया! मेरे जीवन का सुख तुम्हारी चुटकियों के ताल पर उस अज्ञात संगीत का मधुर स्वर सुन रहा था।"

संसार बड़ा मनोरम था।

२

रात और दिन केवल एक अँगड़ाई में समाप्त हो जाता था। प्रकृति के सुंदर दृश्यों के साथ लालसाएँ चुपचाप कानों में कुछ कहकर आकाश में स्वप्नों के समान अपना अनुपम चित्र दिखलाती थीं।

जीवन की अभिनय-शाला का वह प्रथम दृश्य था। निर्भीकता से ससार के सामने उसने आँखें उठाईं।

लोगों ने तीखे स्वर में कहा—"मूर्खो मरोगे, रोओगे।"

उसने बड़ी दृढ़ता से उत्तर दिया—"कोई चिंता नहीं।" साहस सहचर बन गया था।

रण-क्षेत्र में मशीन-गन की तरह संसार की उँगलियाँ उठ गई थीं। समाज कौतूहल से चौकन्ना होकर देखने लगा।

३

"छाया! वह दिन याद है?"

"कौन-सा?"

"जिस दिन तुम और हम परिचित हुए थे।"

"क्या ऐसी घटना भूल सकती है?"

"उस समय प्रसन्नता विना पुचकारे दौड़ी चली आ रही थी। अब समझता हूँ, सचमुच, वे दिन बड़े सुखद थे, जब तुम्हारे नाम का उन्माद था! गंगा के उस पार, बालू की रेती पर, तुम्हारा नाम लिखकर मिटा देता था, जिसमें उसपर किसीका पद-चिन्ह न पड़ जाय।"

"और मैं! अधखुली आँखों से चंद्रमा में तुम्हारा चित्र देखकर अपनेको भूल जाया करती थी।"

"प्रिये! इस जीवन में स्वार्थी संसार से निराश होकर केवल तुम्हारी ही चाह थी। आह! संसार कितना निर्दय है।"

"संसार क्या है? हम-तुम यहाँ क्यों आए? एक रहस्य की बात है।"

"संसार एक अथाह सागर है, तुम और हम उसकी मदमाती लहरें हैं। उसीमें से ये लहरें आती हैं, और अंत में एक दिन उसीमें उछलती-कूदती विलीन हो जायँगी। मैं इससे अधिक नहीं समझता।"

"और, मैं समझती हूँ, संसार एक रंग-मञ्च है। हम

और तुम उसके अभिनेता हैं। अपना खेल दिखलाकर हम लोग पर्दे में छिप जाते हैं।"

युवक किसी भाव में लीन होकर आकाश की ओर देखने लगा।

४

कई वर्ष बीत गए।

प्रति दिन परिवर्त्तन कुछ गुनगुनाकर चला जाता।

छाया जैसे अपने खेल से स्वयं ऊब गई थी। नित्य एक ही दृश्य, एक ही राग, एक ही स्वर सुनते-सुनते हृदय में खटकने लगता है।

उस दिन छाया उदास बैठी थी। उसने अपने पालतू रंग-बिरंगे पक्षियों को बंधन-मुक्त कर दिया था। वह विचार कर रही थी कि आकाश में भटकनेवाले, प्रकृति की मुस्कान पर नृत्य करनेवाले और स्वतंत्रता की गोद में खेलनेवाले विहंगों को बंदी बनाकर रखना कितना अन्याय है। वे पालतू, अपने पंखों से शक्ति-हीन, पक्षिगण पेड़ों के झुरमुट में से छाया का यह खेल बड़े ध्यान से देख रहे थे। यह एक नवीन पहेली थी।

युवक कार्य समाप्त कर अपने घर लौटा। देखा, कुछ

समझ न सका। उसने बड़े कुतूहल से पूछा—"छाया, आज ये पिंजड़े खाली क्यों पड़े हैं ? ओह ! तुम्हारा मुँह कैसा हो गया है ? आँखें भरभरा उठी हैं, बात क्या है ?

छाया की आँखों में स्वतंत्रता की प्यास भरी थी। उसने लड़खड़ाते हुए स्वर में कहा—"पराधीनता पिंजड़े में फड़फड़ा रही थी; वर्षा-ऋतु के ये काले बादल उन्हें कोई संदेश दे रहे थे। मैंने उन्हें छोड़ दिया, प्रेम की अतृप्त बूँदों से प्यास बुझाने के लिये।"

"यह नया खेल कैसा छाया ? तुम्हारे विचारों और कार्य-क्रम में परिवर्तन हो रहा है। तुम अकेले बैठी रोया क्यों करती हो ?"

"कुछ नहीं ! एक नवीन पीड़ा का अनुभव कर रही हूँ।"

"कैसी ?"

"उसे व्यक्त नहीं कर सकती।"

"उसकी कोई दवा है ?"

छाया चुप थी। युवक छाया की ओर एकटक देखने लगा। आँखों ने अपनी सांकेतिक भाषा में कुछ बातें कीं।

युवक को कुछ कहने का साहस न हुआ। विचित्र समस्या थी।

दूसरे दिन फिर युवक जब लौटा, तो उसने देखा—छाया न थी। हृदय-पट पर इन्द्र-धनुष के समान छाया अपनी मुस्कान छोड़कर लुप्त हो गई थी। युवक ने सोचा, छाया इस जीवन से संतुष्ट न रह सकी।

उस सूने घर में, अंधकार की छाया में, निराशा अपना नृत्य दिखला रही थी। युवक भी घर छोड़कर चला गया। पथ-विहीन होकर भटकने लगा।

५

मन में ग्लानि थी। हृदय में धधकती हुई ज्वाला जल रही थी। संसार की मनोरमता पिछली रात के एक स्वप्न की तरह नष्ट हो गई थी। जिस छाया के अवलंब पर संसार से अपना नाता तोड़ा था, वह भी चली गई। कोई अपना न हुआ। जीवन काटने के लिये अब कोई सुख न था।

अपनेको मिटा देने की इच्छा होते हुए भी मनुष्य आसानी से, बिना किसी ईर्ष्या की जलन के, अपने प्राण देने के लिये प्रस्तुत नहीं होता। जीवन का कुतूहल नित्य नवीन खेल देखने के लिये उत्सुकता से अपने चक्षु फैलाये रहता है, चाहे प्रलय का भीषण तूफान ही क्यों न उठा हो।

मन बहलाने के लिये वह नाटक देखने जाने लगा। एक दिन सहसा छाया की वह बात याद आई कि हम लोग संसार-रंगमंच के अभिनेता हैं; तो फिर बनावटी नाटक में ही क्यों न अभिनय करें।

कुछ दिनों के बाद उसे एक प्रसिद्ध नाटक-कंपनी में स्थान मिल गया। उसकी रसीली आँखें, सुनहले केश एक अभिनेता के उपयुक्त थे।

वह कंपनी के साथ अपना कौशल दिखलाता फिरता रहा। उसके अभिनय पर लोग चकित हो जाते। वाह-वाह की ध्वनि से रंग-मंच गूँज उठता। दिन-पर-दिन उसका सम्मान बढ़ने लगा। आदर उसके सम्मुख हाथ फैलाए खड़ा रहता।

वह नाटकों में प्रधान पात्र का पार्ट करता।



आर्य-नाटक-मंडली प्राचीन भारतीय नाटकों का अभिनय करने में प्रसिद्ध थी। प्रत्येक नगर में शिक्षित जनता उसका अभिनय देखने के लिये उत्सुक रहती।

उस दिन नर्तक-सेना का अभिनय था।

वह 'चारुदत्त' का पार्ट कर रहा था। रंगशाला जनता से ठसाठस भरी थी। वह रंग-मंच पर आया, आँखें दौड़ाने लगा। प्रसिद्ध अभिनेता होने के कारण हर्ष की तालियाँ पिट रही थीं।

उसने आश्चर्य से देखा, उसे छाया का भ्रम हो रहा था। आज बड़े उत्साह से वह अभिनय करने लगा। जनता मुग्ध होकर देखने लगी। हज़ारों आँखें उसपर एक साथ गड़ गई थीं।

छाया अपने नवीन प्रेमी के साथ प्रथम पंक्ति के 'कोच' पर बैठी हुई अद्भुत दृश्य देख रही थी।

सूली का दृश्य था।

चारुदत्त वधिकों के बीच में सूली के पास खड़ा था। वधिक प्राचीन प्रथा के अनुसार अपराध की घोषणा कर रहा था—

"इस चारुदत्त ने अपने पर विश्वास करनेवाली वेश्या—इस नगर की शोभा 'वसंतसेना'—की हत्या की है। न्यायालय ने इसको सूली की आज्ञा दी है। प्रत्येक नागरिक को इस घटना से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए......"

दर्शकों में आगे ही बैठी हुई [illegible] आँखों में

कहने लगी—"देखो, यह झूठा ही अपवाद है कि वेश्याएँ पुरुषों को धोखा देती हैं। यह प्रणयशालिनी वसंतसेना एक निर्दय प्रेमी की प्रतिहिंसा का शिकार हुई है। सचमुच पुरुष बड़े निर्दय होते हैं।"

छाया की आँखों में वसंतसेना के प्रति सहानुभूति थी। वह चारुदत्त को फाँसी पर लटकते ही देखना चाहती थी। उसके प्रेमी के हृदय में वेश्या-संसर्ग से एक प्रकार का भय उत्पन्न हो रहा था।

छाया ने कहा—"क्यों, वेश्याओं पर ही यह झूठा आक्षेप है न?"

वह न बोला। रंग-मंच पर अभिनय हो रहा था। उस भीषण परिणाम से वह सशंक हो रहा था।

वधिक आया, उसने चारुदत्त को सूली देने के लिये शीघ्रता की। चारुदत्त सूली पर चढ़ने को तैयार था, सूली आधुनिक फाँसी के ढंग की बनी थी।

छाया यह बीभत्स दृश्य न देख सकती थी। अपनी कोमलता दिखाने के लिये वह भय-विकृत होकर अपने [illegible] से लिपट गई।

"चलो चारुदत्त, फाँसी पर चढ़ो।"

उसने खिड़की से पुकारकर कहा—"ऐ खिलौनेवाले, आज पैसा नहीं है; कल आना।"

"चुप रह, ऐसी बात भी कहीं कही जाती है ?"—उसकी माँ ने भुनभुनाते हुए कहा।

तीन वर्ष की त्रिवेणी की समझ में न आया। किन्तु उसकी माँ अपने जीवन के अभाव का पर्दा दुनिया के सामने खोलने से हिचकती थी। कारण, ऐसा सूखा विषय केवल लोगों के हँसने के लिए ही होता है।

और सचमुच—वह खिलौनेवाला मुस्कुराता हुआ, अपनी घंटी बजाकर, चला गया।

सन्ध्या हो चली थी।

लज्जावती रसोईघर में भोजन बना रही थी। दफ़्तर से उसके पति के लौटने का समय था। आज घर में कोई तरकारी न थी, पैसे भी न थे। विजयकृष्ण को सूखा भोजन ही मिलेगा! लज्जा रोटी बना रही थी और त्रिवेणी अपने बाबूजी की प्रतीक्षा कर रही थी।

"माँ, बड़ी तेज़ भूख लगी है।"—कातर आँखों में त्रिवेणी ने कहा।

"बाबूजी को आने दो, उन्हीं के साथ भोजन करना, अब आते ही होंगे।"—लज्जा ने समझाते हुए कहा। कारण, एक ही थाली में त्रिवेणी और विजयकृष्ण साथ बैठकर नित्य भोजन करते थे और उन दोनों के भोजन कर लेने पर उसी थाली में लज्जावती टुकड़ों पर जीनेवाले अपने पेट की ज्वाला को शान्त करती थी। जूठन ही उसका सोहाग था!

लज्जावती ने दीपक जलाया। त्रिवेणी ने आँख बन्द कर दीपक को नमस्कार किया; क्योंकि उसकी माता ने प्रतिदिन उसे ऐसा करना सिखाया था।

द्वार पर खटका हुआ। विजय दिन-भर का थका लौटा था। त्रिवेणी ने उछलते हुए कहा—"माँ, बाबूजी आ गये।"

विजय कमरे के कोने में अपना पुराना छाता रखकर खूँटी पर कुर्त्ता और टोपी टाँग रहा था।

लज्जा ने पूछा—"महीने का वेतन आज मिला न?"

"नहीं मिला, कल बँटेगा। साहब ने बिल पास कर दिया है।"—हताश स्वर में विजयकृष्ण ने कहा।

लज्जावती चिन्तित भाव से थाली परोसने लगी।

भोजन करते समय, सूखी रोटी और दाल की कटोरी की ओर देखकर विजय न-जाने क्या सोच रहा था। सोचने दो; क्योंकि चिन्ता ही दरिद्रों का जीवन है और आशा ही उनका प्राण।

× × ×

किसी तरह दिन कट रहे थे।

रात्रि का समय था। त्रिवेणी सो गई थी, लज्जा बैठी थी।

"देखता हूँ, इस नौकरी का भी कोई ठिकाना नहीं है।"—गम्भीर आकृति बनाते हुए विजयकृष्ण ने कहा।

"क्यों! क्या कोई नई बात है?"—लज्जावती ने अपनी झुकी हुई आँखें ऊपर उठाकर, एक बार विजय की ओर देखते हुए, पूछा।

"बड़ा साहब मुझसे अप्रसन्न रहता है। मेरे प्रति उसकी आँखें सदैव चढ़ी रहती हैं।"

"किस लिए?"

"हो सकता है, मेरी निरीहता ही इसका कारण हो।"

लज्जा चुप थी।

"पन्द्रह रुपये मासिक पर दिन-भर परिश्रम करना पड़ता है। इतने पर भी······"

"ओह, बड़ा भयानक समय आ गया है!"—लज्जावती ने दुःख की एक लम्बी साँस खींचते हुए कहा।

"मकानवाले का दो मास का किराया बाकी है, इस बार वह नहीं मानेगा।"

"इस बार न मिलने से वह बड़ी आफ़त मचायेगा।"—लज्जा ने भयभीत होकर कहा।

"क्या करूँ? जान देकर भी इस जीवन से छुटकारा होता······।"

"ऐसा सोचना व्यर्थ है। घबड़ाने से क्या लाभ? कभी दिन फिरेंगे ही।"

"कल रविवार है, छुट्टी का दिन है, एक जगह दूकान पर चिट्ठी-पत्री लिखने का काम है। पाँच रुपये महीना देने को कहता था। घंटे-दो-घंटे उसका काम करना पड़ेगा। मैं आठ माँगता था। अब सोचता हूँ, कल उससे मिलकर स्वीकार कर लूँ। दफ़्तर से लौटने पर उसके यहाँ जाया करूँगा,"—कहते हुए विजयकृष्ण के हृदय में उत्साह की एक हल्की रेखा दौड़ पड़ी।

"जैसा ठीक समझो।"—कहकर लज्जा विचार में पड़ गई। वह जानती थी कि विजय का स्वास्थ्य परिश्रम करने से दिन-दिन खराब होता जा रहा है।

मगर रोटी का प्रश्न था !

दिन, सप्ताह और महीने उलझते चले गये ।

विजय प्रतिदिन दफ़्तर जाता । वह किसीसे बहुत कम बोलता । उसकी इस नीरसता पर प्रायः दफ़्तर के अन्य कर्मचारी उससे व्यंग करते ।

उसका पीला चेहरा और धँसी हुई आँखें लोगों को विनोद करने के लिए उत्साहित करती थीं। लेकिन वह चुपचाप ऐसी बातों को अनसुनी कर जाता, कभी उत्तर न देता । इसपर भी सब उससे असन्तुष्ट रहते थे ।

विजय के जीवन में आज एक अनहोनी घटना हुई । वह कुछ समझ न सका । मार्ग में उसके पैर आगे न बढ़ते । उसकी आँखों के सामने चिनगारियाँ झलमलाने लगीं । मुझसे क्या अपराध हुआ ?—कई बार उसने मन ही में प्रश्न किये ।

घर से दफ़्तर जाते समय बिल्ली ने रास्ता काटा था । आगे चलकर खाली घड़ा दिखाई पड़ा था । इसीलिए तो सब अपशकुनों ने मिलकर आज उसके भाग्य का फ़ैसला कर दिया था !

"साहब बड़ा अत्याचारी है। क्या ग़रीबों का पेट काटने के लिए ही पूँजीपतियों का आविष्कार हुआ है? नाश हो इनका...वह कौन-सा...दिन होगा जब रुपयों का अस्तित्व संसार से मिट जायगा? भूखा मनुष्य दूसरे के सामने हाथ न फैला सकेगा?"—सोचते हुए विजय का माथा घूमने लगा। वह मार्ग में गिरते-गिरते सम्हल गया।

सहसा उसने आँखें उठाकर देखा, वह अपने घर के सामने आ गया था; बड़ी कठिनाई से वह घर में घुसा। कमरे में आकर धम से बैठ गया।

लज्जावती ने घबराकर पूछा—"तबीयत कैसी है?"

"जो कहा था वही हुआ।"

"क्या हुआ?"

"नौकरी छूट गई। साहब ने जवाब दे दिया।"—कहते-कहते उसकी आँखें छलछला गईं।

विजय की दशा पर लज्जा को रुलाई आ गई। उसकी आँखें बरस पड़ीं। उन दोनों को रोते देखकर त्रिवेणी भी सिसकने लगी।

संध्या की मलिन छाया में तीनों बैठकर रोते थे।

इसके बाद शान्त होकर विजय ने अपनी आँखें पोंछीं; लज्जावती ने अपनी और त्रिवेणी की—

क्योंकि संसार में एक और बड़ी शक्ति है, जो इन सब शासन करनेवाली चीजों से कहीं ऊँची है—जिसके भरोसे बैठा हुआ मनुष्य आँख फाड़कर अपने भाग्य की रेखा को देखा करता है।



छलिया

बहन मालती,

बहुत-सा प्यार ! तुम बड़ी निष्ठुर हो। तुमने सौगंद लेकर कहा था कि मैं पहले पत्र लिखूँगी, पर राह देखते-देखते आँखें पथरा गईं। तुम्हारे हाथ सुकुमार हैं, अवश्य कलम उठाने में दुख जायँगे, इसका मुझे पता न था। मैं तो घबरा गई।

तुमने कहा था कि मैं पत्र लिखने में स्वतंत्र हूँ; पर तुम तो—मालूम होता है—मुझसे भी अधिक अपनी सीमा के भीतर रहनेवाली हो। बहन, पसीजो ! पत्र तो लिखो। उस दिन, मेले से लौटकर आने पर, तुम्हारी बड़ी-बड़ी आँखें

मेरी आँखों में घुस गई हैं। सचमुच तुम्हारे वह तो तुम्हें छोड़ते न होंगे। तुम बड़ी भाग्यवती हो। मुझे भी तो वही प्रयोग बतलाने को तुमने कहा था। लिखो न ! क्या उपाय है ? मैं ऊब गई हूँ। मुझसे तो यह तीव्र उपेक्षा अब सही नहीं जाती।

क्या आँसू पीकर बराबर हँसते रहना हमारे ही भाग्य में है ? तुम बड़ी हँसोड़ हो, यह तो मैं जान चुकी हूँ। बतलाओगी ? उसका क्या मूल्य है ? बहन, उन दिनों की स्मृति कब तक धीरज देगी ? मैं कभी-कभी घबड़ाकर उन्हीं से पूछती हूँ कि "मेरा वह सब क्या हुआ ?" वह, मेरे आराध्य ! निश्चल प्रतिमा की तरह उत्तर दे देते हैं।

तुमने उन्हें उस दिन देखा था। यह ठीक है कि जब वह पास आ गए, तो तुमने घूँघट काढ़ लिया, पर देखा होगा अवश्य ! वह मेरे हैं, केवल इस मौखिक गर्व से असंतुष्ट हृदय कब तक भुलवाया जा सकता है ? कोई उपाय बताओगी ? तुम्हें सौगंद है—लिखो। मैंने तुम्हें अपना पता लिखा दिया था। आशा है, तुम भूली न होगी।

तुम्हारी—

चंपा

चंपा का पत्र पढ़कर मालती मुस्कुराने लगी। एक बार उसने सोचा, यह बला कहाँ से पीछे लगी। फिर उसके चञ्चल चित्त ने कहा—क्या हर्ज है? जैसे श्यामलाल को बुद्धू बनाना चाहती हूँ, उसी तरह चंपा को भी छका सकती हूँ! कैसी अच्छी दिल्लगी रहेगी। उसने बनावटी सहानुभूति और गम्भीरता के साथ उत्तर लिखा—

मेरी प्यारी चंपा,

गले से मिलना! आज अनायास तुम्हारा पत्र मिल गया। पहले कई दिनों तक तुम मेरी आँखों पर चढ़ी थीं; मगर सदैव कौन किसको याद करता है? मैंने समझा, वह एक मनोविनोद था। शायद तुम भूल जाओ, लेकिन नहीं, बात वैसी नहीं मालूम पड़ती। तुम्हारे पत्र ने जैसे प्रत्यक्ष में बातें कीं। तुम्हारी दशा पर तरस आता है—बहन! क्या करोगी? भाग्य में जो लिखा होता है, वह तो होता है।

मेरे वह तो मेरे सङ्केत पर चलते हैं। उनके लिये कभी दुःख और चिन्ता करनेवाली बातें मेरे मन में उठी ही नहीं। फिर भी तुम्हारे दुःख की कल्पना कर सकती हूँ। यह एक बड़ी विचित्र बात है!

एक बात है ! तुम्हारे पत्र से ऐसा ज्ञात होता है कि तुम्हारे वह दिन-पर-दिन तुम्हारे प्रति नीरस होते जा रहे हैं। मैं समझती हूँ, इसका मुख्य कारण यही है कि ज़रूरत से ज्यादा तुम नम्र हो जाती हो। यदि वह कुछ खिंचें, तो तुम भी कुछ खिंचो। स्त्रियों पर आधिपत्य जमाकर अपराधी पुरुष शासन की लालसा में अपनेको कैसा भाग्यशाली समझने लगता है ? हो सके, तो उत्तर देना।

तुम्हारी—

मालती

पत्र लिखकर मालती बार-बार उसे पढ़ने लगी। उसे अपने काल्पनिक पति की प्रशंसा करने में बड़ा मज़ा आया, वह हँस पड़ी।

मालती का पत्र पढ़कर चम्पा कई दिनों तक विचार में पड़ी थी। अन्त में उसने उत्तर लिखा—

मेरी भाग्यवती बहन,

तुम्हारे उस सुहाग की साड़ी के आँचल का चुंबन ! तुम्हारा पत्र पढ़कर मेरा हृदय तो उतावला-सा हो गया

है। तुम्हारे भाग्य से ईर्ष्या होती है! तुम्हारी बातें मेरे लिये बड़ी कठिन हैं। भला उनसे खिंचने से कै दिन चल सकेगा? अभी तो भूले-भटके कभी वह बात भी कर लेते हैं। नहीं तो वह घर का आना भी एकदम छोड़ देंगे। तुम्हीं कहो, उनसे लड़ाई करके ईश्वर भी मेरा सहायक न होगा। मेरे तो वही धर्म हैं, वही ईश्वर हैं और वही पार लगानेवाले हैं। राम-राम! ऐसी बातें भूलकर भी नहीं सोचना चाहती। हृदय काँप उठता है!

सुना है, वह एक दूसरी स्त्री पर रीझे हैं, एक वेश्या के यहाँ जाते हैं! हो सकता है। उनके लिये बहुतेरी हैं; मगर मेरे लिये वह एक ही हैं। इसीलिये, तीर की तरह यह बात दिल में चुभी है। मेरा क्या वश है; मैं क्या कर सकती हूँ? न-जाने कौन-सा अपराध हो गया है! उनकी आँखों में अपने प्रति घृणा देखकर डूब मरने की इच्छा होती है।

एक दिन था, जब मैं अपनेसे बढ़कर भाग्यवती दुनिया में किसीको न समझती थी, फूली न समाती थी। वे दिन हँसते-हँसते कट जाते थे। जीवन में कितना उत्साह था। उनकी एक प्रेम-भरी दृष्टि पर मैं मर-मिटने

को तैयार थी। लेकिन, आज मुझसे बढ़कर दुखिया कौन होगा ?

देखती हूँ, मनुष्य का स्वभाव रङ्गीन बादलों की तरह क्षण-भर में ही बदल जाता है। जिसको एक दिन वह दोनों हाथों को फैलाकर गले से लगाता है, उसीको क्रोध की लाल-लाल आँखें चढ़ाकर पैरों से ठुकरा भी सकता है। किसीके मन की बात कौन समझ सकता है ?

ओह ! उनका दिल मुझसे फट गया है, अकेले कमरे में बैठे न-जाने क्या सोचा करते हैं। मुझे देखते ही उनकी आँखें चढ़ जाती हैं। बोलो, ऐसी स्थिति में मेरे जीने से क्या लाभ ?

उस दिन तुम्हारा पत्र डाकिया से लेकर जब नन्ही आई, तो पूछने लगे, किसका पत्र है ? तुम्हारी बात मैं छिपा गई। मैंने कहा—"मेरी बहन का है।" फिर उन्होंने कुछ न पूछा। मैं समझती हूँ कि इसमें मैं उनसे झूठ नहीं बोली, क्योंकि तुम भी तो मेरी बहन हो !

अब मैं क्या करूँ ? कोई उपाय यदि तुम बता सकतीं, तो मैं जीवन-भर तुम्हारी ऋणी रहती, तुम्हारे नाम की माला जपती। मेरी दशा पर विचार करो और लिखो कि

मेरी सुख की फुलवारी क्या फिर से हरी-भरी हो सकती है ? या जीवन से निराश हो जाऊँ ? बस ।

तुम्हारी अभागी—

चंपा

आरंभ में मालती ने इसे खिलवाड़ समझा था; किन्तु अब वह चंपा के मानसिक कष्ट का धीरे-धीरे अनुभव करने लगी। उसे ऐसा मालूम पड़ता, जैसे वह घोर अनर्थ कर रही है। इस बार फिर उसने उत्तर लिखा—

बहन चंपा,

तुम्हारा पत्र मिला था। कई दिनों तक तुम्हारी स्थिति पर विचार करती रही। कुछ समझ में नहीं आता। मनुष्य इतनी जल्दी बदल जाता है, आश्चर्य है !

सुना है, पुरुष बड़े स्वार्थी होते हैं। मतलब के समय नम्र हो जाते हैं, बड़े सीधे-सादे बन जाते हैं; मगर भीतर से होते हैं बड़े चालाक ! पहले तो ये दिन और रात एक कर देते हैं। सर्वदा एक ही बात—"मैं तुम्हें कितना चाहता हूँ—" यही उनका पेटेंट नुस्खा होता है। अरे, तुम्हें नहीं मालूम, जिस तरह नित्य एक ही तरह की तरकारी, दाल,

मिठाई खाते-खाते तबीयत ऊब जाती है, उसी तरह इनको भी ज़ायक़ा बदलने की आवश्यकता पड़ती है। मेरा ऐसा अनुमान है कि तुम्हारे वह आज-कल ज़ायक़ा बदलने के फेर में पड़े हैं।

वेश्या किसीकी होती नहीं। उसे तो रुपयों से काम है। उसके यहाँ जाकर मनुष्य बरबाद भी हो सकता है और कुछ सीख भी सकता है। जो उस भूल-भुलैया से निकल आता है, वह संसार में चतुर समझा जाता है। जीवन-भर फिर वह किसीके हाथों पर नहीं चढ़ता। ऐसा मैंने किसी पुस्तक में पढ़ा है। हो सकता है, तुम्हारे वह भी वहाँ से छुटकारा पाने पर सदैव के लिये तुम्हें सुखी बना सकें।

मुझसे पूर्ण-रूप से परिचित न होते हुए, केवल एक दिन की भेंट में, तुम मुझे अपना समझती हो। तुम्हारी इस सरलता पर मैं मुग्ध हूँ। मैं भी तुम्हें सुखी देखना चाहती हूँ; किन्तु तुम अपने भाग्य की उलझी ग्रन्थि को सुलझाने में अपनेको असमर्थ समझती हो।

मैं अब तुम्हारा शहर छोड़ रही हूँ। बहुत शीघ्र यहाँ से चली जाऊँगी। सब तरह से सुखी होते हुए भी मन उदास रहता है। सोचती हूँ, उनसे लड़ाई करके कहीं भाग

जाऊँगी। मैं स्वतन्त्र हूँ, मेरे हृदय पर किसीका अधिकार नहीं। मैं एक पहेली हूँ। बूझ सकोगी? अच्छा, जाने के पहले एक दिन तुमसे भेंट करूँगी। अब पत्र मत लिखना।

तुम्हारी—

मालती

कई दिन समाप्त हुए।

चंपा, मालती के इस रहस्य-पूर्ण पत्र को न समझ सकी। मालती कौन है, यह वह भली भाँति न जानती थी। बगीचे में भेंट हुई थी। बड़ी मिलनसार थी। बातें हुईं। एक दिन का परिचय था। मालूम पड़ता, वह बरसों की परिचित है। चंपा सोचने लगी, वह शहर छोड़कर कहाँ जायगी? क्या वह अपने पति का साथ छोड़ देगी? उसने तो लिखा था कि मेरे वह मेरे सङ्केत पर चलते हैं, फिर इतनी उदासी क्यों?

'इधर कई दिनों से श्यामलाल को भी चिंतित देखकर चंपा कुछ समझ न पाती। भोजन के समय श्यामलाल की भरभराई आँखें किसी भारी अभाव की सूचना दे रही थीं।

घड़ी में आठ बजा था। बड़ी कड़ाके की धूप निकली

थी । श्यामलाल कपड़ा पहन रहे थे । चंपा उनके सामने खड़ी थी । उसने पूछा—"आज इतनी जल्दी कहाँ जा रहे हैं ? भोजन कर लीजिए, तब जाइएगा ।"

"मेरे एक मित्र परदेस जा रहे हैं । उन्हें स्टेशन तक पहुँचाना है ।"—कहते हुए श्यामलाल कुर्त्ते का बटन लगा रहे थे ।

ठीक उसी समय द्वार पर गाड़ी के रुकने की खड़-खड़ाहट हुई । चंपा अपने पति के कमरे से हटना चाहती थी । उसने समझा, उनके कोई मित्र आए हैं । श्यामलाल भी ध्यान से द्वार की ओर देखने लगे ।

यह क्या ? यह तो स्त्री है ! कौन है—मालती ? चंपा ने पहचान लिया । वह वहीं खड़ी हो गई ।

श्यामलाल थरथर काँप रहे थे । मालती आगे बढ़ी । चंपा ने बड़े कौतूहल से दोनों हाथ फैलाकर उसका स्वागत किया । मालती, श्यामलाल की ओर देखती हुई, उनके कमरे की ओर बढ़ी ।

चंपा ने कहा—"उधर कहाँ ? चलो घर में ।"

"नहीं, उन्हीं के यहाँ, तुम भी साथ आओ ।"—बड़े साहस से मालती ने कहा ।

चंपा बड़े आश्चर्य से उसके साथ कमरे में गई। आज मालती ने श्यामलाल को देखकर घूँघट नहीं काढ़ा था।

श्यामलाल का चेहरा अपराधी की तरह पीला पड़ गया था। वह चुपचाप देखने लगे।

श्यामलाल से आँखें मिलाकर मालती ने मुस्कुराते हुए कहा—"बड़ी देर कर दी! मैं प्रतीक्षा में थी। इसी लिये स्वयं चली आई।"

श्यामलाल एक शब्द भी न बोल सके। वह चंपा की ओर देखने लगे।

मालती ने कुछ आभूषणों को देते हुए चंपा से कहा—"लो, इसे सहेज लो, इतनी बहुमूल्य चीज मेरे भाग्य में नहीं है। यह सब तुम्हारा है।"

"मेरा!—नहीं, तुम यह क्या कह रही हो मालती बहन? पागल तो नहीं हो गई हो?"—चंपा ने पूछा।

"मैंने तुम्हें लिखा था कि मैं एक पहेली हूँ—तुम्हें नहीं मालूम, मैं वही वेश्या हूँ, जिसपर तुम्हारे पति रीझे हैं, मैं अब परदेस जा रही हूँ बहन! मुझे क्षमा करो।"—मालती ने बड़ी नम्रता से कहा।

चंपा मालती और श्यामलाल की ओर देखने लगी।

श्यामलाल ने घबराकर कहा—किसी कलुषित भाव
जानता था।......तुम बड़ी विचित्र हो। ऐसे तो मैं एक

"बहन, अब तुम सुखी रहोगी। आ: लोग पागल हो
मिलने आई थी। आज ही जा रही हूँ, इसी'ब मैं किसी
गाड़ी से।"—कहते हुए मालती जाने लगी। ? दिल में

चंपा की आँखों में लाली दौड़ रही थी। उसे इतना
स्वर में कहा—"तुम बड़ी छलिया हो!" नए

मालती चली गई थी।

श्यामलाल ने कपड़े उतार दिए, वह मालती को
स्टेशन तक पहुँचाने नहीं गए!



मैंने कहा—मेरी खुराक ही इतनी है।

बस, यही मेरी और शान्ता की प्रथम दिवस की बातचीत है। उसमें न जाने कौन-सी ऐसी आकर्षण-शक्ति थी, जिसने मुझे इतनी जल्दी अपनी ओर खींच लिया। अब मेरी रात जागते बीतने लगी। मेरी दशा ही कुछ बदल गई। मैंने एक नये संसार में प्रवेश किया। दिन-रात मैं विचारों में लीन रहता।

धीरे-धीरे शान्ता से बड़ी घनिष्ठता हो गई—उसीसे क्यों, उसके घर-भर से। नित्य-प्रति वह भोजन के समय, दोनों वेला, मेरे सामने बैठती। मैं खाने के साथ-साथ, जी भरकर, उसका रूप-रस पीता।

मैं पान बहुत खाता था। वह नित्य मेरे लिए एक डिबिया पान भरकर दे देती थी।

मैं केवल आठ दिनों में ही उन लोगों से ऐसा घुल-मिल गया, मानों मैं खास उन्हीं के घर का हूँ। राजनाथ से तो पहले ही से मेरा परिचय था। कई बार वह मेरे घर आ चुके थे; किन्तु मुझे उनके घर के लोगों के देखने का यह पहला ही अवसर था।

राजनाथ एक दफ़्तर में नौकरी करते थे, और अपनी

तनख़्वाह से घर का ख़र्च अच्छी तरह चला लेते थे। कुछ पैतृक सम्पत्ति भी थी। वह शहर के मामूली रईसों में से एक थे।

शान्ता, पति की मृत्यु के पश्चात्, अपने मायके में ही रहती थी। उस समय उसकी अवस्था अठारह वर्ष से ज्यादा न थी। पहाड़ी देश होने के कारण वहाँ जल-वायु बहुत लाभदायक था। प्रकृति के मनोहर दृश्य ख़ूब देखने को मिलते थे।

घर से कुछ दूरी पर एक झरना था। मैं उसके पास जाकर कभी-कभी बैठता। जल-प्रपात बड़े वेग से गिरता था। पहाड़ी पत्थरों से इठलाती हुई लहरियाँ बहकर एक छोटी-सी धारा बना देती थीं। वहीं बैठकर मैं अपने मन के प्रवाह का मिलान करता, और उस स्रोत के साथ बह जाने की प्रबल कामना का उद्वेग लिये—हृदय को सम्हाल-कर—शान्ता के घर लौट आता था।

पक्षियों का कोलाहल, पवन का मचलना, पहाड़ी वृक्षों का मस्ती से झूमना, और उस स्थान की निर्जनता ने वहाँ की प्रकृति को सजीव बना दिया था। उस एकान्त स्थान में मुझे बड़ा आनन्द आता। बैठा-बैठा मैं विचार करता

कि एकाएक मैं शान्ता को क्यों इतना चाहता हूँ—मैंने अपने जीवन में एक-से-एक बढ़कर सुन्दर स्त्रियों को देखा है, फिर भी उनके प्रति मेरा प्रेम नहीं हुआ; किन्तु शान्ता में कौन-सी ऐसी शक्ति है, जो मुझे खींच रही है।

मेरी यही इच्छा होती थी कि बस दिन-रात शान्ता को देखा करूँ। यही मेरी प्रथम और हार्दिक कामना मेरे जीवन में उत्पन्न हुई।

एक दिन मैं घूमकर आया, तो शान्ता अपने कार्य में व्यस्त थी। उस दिन मेरी पान की डिबिया भी नहीं भरी थी। मैं थोड़ी देर के बाद ऊपर गया और उससे अपने लिए पान माँगने लगा। उसने कहा—ओफ! आज बड़ी भूल हो गई, अभी तक आपके लिए पान न बना पाई!

मैंने कहा—नहीं, कोई हर्ज नहीं। लाओ, मैं अपने हाथ से बना लूँ; क्योंकि तुम अपने काम में लगी हो।

उसने कहा—वाह, मेरे रहते आप पान बनाइयेगा?

मैं जिद्द पर अड़ गया—आज मैं अपने ही हाथ से पान बनाऊँगा।

उसने मुझे डब्बा दे दिया। मैं पान बनाने लगा। वह और उसकी माँ मेरे पास बैठकर हँसने लगीं। जब मैं पान

बना चुका, तब वही अकेली मेरे सामने बैठी थी। मैंने धीरे से दो बीड़ा पान उसकी तरफ़ बढ़ा दिया। थोड़ी देर तक वह मेरी तरफ़ एकटक देखने लगी। फिर चुपके-से पान लेकर उसने खा लिया।

उस दिन उसकी उस चितवन में जादू का-सा सम्मोहन था। उसकी आँखों में फिर वैसी झलक कभी दिखलाई न पड़ी।

मैंने कहा—शान्ता, तुम जानती हो ?

उसने पूछा—क्या ?

मैंने कहा—जो जिसे बहुत चाहता है, उसे उसके हाथ के पान बहुत रुचते हैं !

उसने अपना सिर नीचा कर लिया। उसकी आँखें कहती थीं—वह मुझे हृदय से प्यार करती है। उसके भावों से मेरे मन में ऐसा ही अनुमान हुआ।

कई दिन बीत गये। एक दिन राजनाथ ने मुझसे पूछा—कहो, यह स्थान तुम्हें पसन्द आया या नहीं ?

मैंने कहा—ऐसा रमणीक स्थान भला कौन नहीं पसन्द करेगा ?

शाम को सब कोई एक साथ बैठकर भोजन करते

थे। उस समय आपस में खूब बातें होती थीं। कभी-कभी चलती-फिरती बातों पर मजेदार बहसें होतीं—बड़ा मज़ा आता था। शान्ता भी चुपचाप बैठी बड़ी दिलचस्पी से बातें सुनती और प्रसन्न होती थी।

एक दिन अकस्मात् मेरे सिर में जोरों से दर्द होने लगा—साथ ही, ज्वर भी चढ़ आया। उस समय राजनाथ दफ़्तर गये हुए थे। मैं पलँग पर लेटा था। मेरी हालत देखकर शान्ता दुःखित हुई। उसने मेरे मस्तक पर अपने काँपते हुए कोमल हाथ को रखकर पूछा—कैसी तबीयत है ?

उसके कर-स्पर्श से मैं एक अनिर्वचनीय स्वर्गीय सुख का अनुभव करने लगा। उस समय आकाश में बादल छाये हुए थे—छोटी-छोटी बूँदें गिर रही थीं। मैं एकटक उसकी तरफ़ देख रहा था। वह भी देख रही थी मेरी तरफ़। उसने मीठे स्वर में पूछा—आप इस समय क्या सोच रहे हैं ?

मैंने उसका हाथ पकड़ लिया और धीरे से कहा—शान्ता ! यदि इसी हालत में मेरे जीवन का अन्त हो जाय, तो मैं अपनेको बड़ा भाग्यवान समझूँगा।

उसने कहा—छिः ! ऐसी अशुभ बात क्यों कहते हो ?

मैंने कहा—नहीं शान्ता! अब मुझे इस संसार में सुख नहीं दिखाई देता। एक दिन मुझे तुमसे अलग होना ही पड़ेगा। उस विरह की कल्पना, ज्वाला बनकर, मुझे अभी से जला रही है।

उसने चुपचाप एक ठंढी साँस भरकर 'आह' खींची। अब मेरा दृढ़ विश्वास हो गया कि वह भी मुझे हृदय से चाहती है। दो दिनों तक मैं चारपाई पर पड़ा रहा। बाद को मेरा ज्वर और दर्द दूर हो गया। यह शान्ता की हार्दिक शुभ कामना का फल था!

२

मैं चुपचाप अपने कमरे में अकेला बैठा कुछ सोच रहा था। उस समय दरवाजे को खटखटाकर रसीला मलय-पवन उलटे पाँव लौट जाता था। मेरे मन में यह बात खटकी। उठकर खिड़की खोल दी—मालती की सुगन्ध से भरा हुआ वायु का एक झोंका भीतर घुस आया।

मेरा मन और भी उलझन में पड़ गया। खिड़की से दो-चार तारे चुपचाप मेरी ओर ताकते थे। मैं चञ्चल हो उठा। शान्ता का ध्यान मेरे मस्तक में सुगन्ध के समान भर गया। मैं बड़ा व्यथित था। मेरे हृदय में बड़ी ग्लानि उत्पन्न हुई।

मैंने मन-ही-मन कहा—छिः ! अपने एक सम्बन्धी मित्र के साथ विश्वासघात करते शर्म नहीं आती ! मुझे क्या अधिकार है कि मैं शान्ता को प्यार करूँ। वह तो संसार से उसी दिन अलग कर दी गई, जिस दिन वह विधवा हो गई—उसका सुहाग धूल में मिल गया ! मैं उसे प्यार कर उसकी मनोवृत्ति को क्यों चञ्चल कर रहा हूँ। समाज में वह कलङ्कित हो जायगी। फिर ? फिर वह कहीं की न रह जायगी। उफ़ ! उससे प्रेम कर मैं उसके जीवन के साथ कितना बड़ा अत्याचार कर रहा हूँ !

सोचते-सोचते मैंने निश्चय किया, अब बहुत जल्द मैं यहाँ से प्रस्थान कर दूँगा—प्रेमाग्नि से जल उठनेवाले ईन्धन को दूर ही रखना ठीक है।

दूसरे दिन मैं जाने की तैयारी करने लगा। राजनाथ ने पूछा—क्यों बिजयकृष्ण, आज तुम बहुत उदास क्यों मालूम पड़ते हो ?

मैंने कहा—नहीं, उदास तो नहीं हूँ। अब घर जाने की इच्छा है। वहाँ बहुत-से जरूरी काम हैं। आज बीस दिन यहाँ रहते हो गये। इस बीच में मेरे कारण आपको जो कुछ कष्ट उठाना पड़ा, उसके लिए क्षमा कीजियेगा। मैं आपका कृतज्ञ हूँ।

राजनाथ ने कहा—तुम ऐसी दुनियादारी की बातें करना कैसे सीख गये विजय ? यहाँ तुम्हारे रहने से मुझे क्या कष्ट उठाना पड़ा ? तुम्हारी ही वजह से तो मेरा घर आज-कल गुलज़ार है। सच मानो, मैं तुम्हारे आने से बड़ा सुखी हुआ हूँ। मैं तुमसे अनुरोध करता हूँ—जैसे तुम इतने दिन रहे, वैसे ४-५ दिन और रह जाओ।

मैं राजनाथ की इस सज्जनता की मन-ही-मन प्रशंसा करने लगा—कैसा भोला-भाला निष्कपट मनुष्य है !

उनकी बात मानकर मैंने कुछ दिनों के लिए घर जाने का विचार छोड़ दिया। वह बड़े प्रसन्न हुए—हँसते-हँसते दफ़्तर चले गये।

एक दिन मैं कमरे में लेटा हुआ उपन्यास पढ़ रहा था। उसी समय पान की डिबिया लेकर शान्ता आई। उसने मुझे पान देते हुए कहा—क्या अब आप चले जायँगे ?

इतना पूछते ही उसकी आँखों से आँसू टपक पड़े। मैंने धीरे से कहा—इरादा तो जाने ही का है, यहाँ पड़े-पड़े क्या करूँ ?

अच्छा, क्या मैं एक बात कहूँ ?

हाँ-हाँ, खुशी से कहो।

सङ्कोच-वश सिर नीचे झुकाकर काँपती हुई आवाज़ में बोली—अगर मैं भी आपके साथ चलूँ तो ?

मैंने चिन्तित होकर कहा—शान्ता, मैं जानता हूँ कि तुम मुझे बहुत प्यार करती हो—मेरे लिए सब कुछ त्याग सकती हो। किन्तु, तुम्हीं सोचो, यदि तुम मेरे साथ चलोगी, तो समाज क्या कहेगा ? उसके कलङ्क से हम मुँह दिखाने लायक नहीं रह जायँगे !

वह रोने लगी। सिसकती हुई बोली—निगोड़ा समाज मतलबी है। वह दूसरों को सुखी नहीं देख सकता—किसी के दुःख में हाथ भी नहीं बँटा सकता। फिर ऐसे समाज के कलङ्क की क्या चिन्ता ? मैं तुम्हारे साथ रहकर अपने को परम सौभाग्यवती समझूँगी। अगर मेरा सौभाग्य अन्धे समाज को खलेगा, और वह हमें घृणा की निगाह से देखेगा, तो देखने देना।

मैंने कहा—नहीं शान्ता, इस तरह समाज की अवहेलना करना ठीक नहीं। हमें इसी समाज में रहना और मरना है। चार दिन की इस जिन्दगी में समाज से अपयश लेकर जीना-मरना अच्छा नहीं।

उसने मेरी बातों का कोई उत्तर नहीं दिया। मैंने फिर कहा—यह तो बताओ, तुम मेरी आत्मा को प्यार करती हो या इस क्षण-भङ्गुर शरीर को ?

आपकी आत्मा को।

तो देखो—यह शरीर और रूप एक दिन मिट्टी में मिल जायगा; किन्तु मेरी आत्मा सदा तुम्हारे साथ रहेगी। मेरा शरीर चाहे कहीं भी रहे, लेकिन तुम्हें मेरे वियोग का दुःख नहीं उठाना पड़ेगा।

मेरी बात सुनकर उसके हृदय पर बड़ा आघात पहुँचा। उसने कहा—देख ली मैंने आपकी फ़िलासफ़ी ! अच्छा, आप जाते ही हैं, तो जाइये; पर अपनी इस दासी को भुला मत दीजियेगा।

यह कहते-कहते उसका मुँह पीला पड़ गया। बगल से उसने एक सुगन्धित रेशमी रूमाल निकालकर कहा—लीजिये, यह है मेरी याददाश्त !

मैंने रूमाल लेकर उसकी खुशबू से तबीयत को तर किया—फिर उसे आँखों से लगाते हुए जेब में रख लिया। मैंने अपने ट्रंक से दो किताबें निकालीं और उसे देते हुए कहा—लो, ये ही तुम्हें मेरी याद दिलायेंगी।

उसी दिन, रात की ट्रेन से, सबसे बिदा लेकर, मैं घर की ओर चल पड़ा। चलते समय उसकी डबडबाई आँखों ने कहा—तुम बड़े निर्दय हो!

३

मुझे घर आये कई मास बीत गये। वर्षा ऋतु का अन्त था। बरसते हुए बादल अब कम दिखाई देने लगे थे। पृथ्वी पर से श्यामल-छाया अब खिसकने लगी थी। आकाश में स्वच्छता अधिक और पवन में शीतलता बढ़ चली थी।

मैं धीरे-धीरे चिन्ता-ग्रस्त होता गया। भोजन कम हो गया। कुछ अच्छा नहीं लगता था। दिन-रात शान्ता की वह मनमोहनी सूरत आँखों के सामने घूमा करती थी।

मेरा स्वभाव एकदम बदल गया। मैंने सबसे मिलना-जुलना छोड़ दिया। अपना सारा समय एकान्त में बिताने लगा। अपनी जिन्दगी मुझे बोझ-सी मालूम होने लगी। एक पिंजड़े में बन्द पक्षी की तरह मेरा जीवन दुःखद बन गया। मेरी यह हालत देखकर घरवाले बड़े परेशान हुए। लोग पूछते—तुम्हें हो क्या गया है? किस फ़िक्र में पड़े रहते हो? मुँह पीला क्यों होता आ रहा है?

मैं कहता—मेरी तबीयत अच्छी नहीं है।

शांता की सभी बातें एक-एक कर अब याद आने लगीं—उसकी वह मधुर मुस्कान—वह एकटक रसीली चितवन—वह चितचोर भोलापन—वह मीठी-मीठी शीतल बातें—क्या मुझे अब नसीब न होंगी!

सोचते-सोचते मेरी व्यथा बढ़ गई, और बढ़ गई हृदय की व्याकुलता। मैं मन-ही-मन सोचता—यदि शान्ता का दर्शन फिर किसी तरह हो जाय, तो उसे अपने सारे दुखड़े सुनाऊँ, उसे छाती से लगाकर दिल को ठंढा करूँ, और उससे साफ़ कह दूँ—शान्ता! मेरी जीवन-नौका की तुम्हीं एक पतवार हो, मुझे पार लगाओ।

फिर मैं स्वयं अपने-आपको धिक्कारते हुए कहता—छिः! यह क्या सोचते हो? एक विधवा-अबला का जीवन नष्ट करके ही छोड़ोगे क्या?

हृदय में इन दुहरी भावनाओं का द्वन्द्व चल पड़ा। कभी अच्छी भावना अपनी ओर खींचती—कभी बुरी भावना अपनी ओर। इस खींचातानी में कई दिन बीत गये। अन्त में पाप की विजय हुई। मेरे दार्शनिक विचार हवा हो गये। मुझे अब उसके वियोग का एक-एक पल

अखरने लगा। बस मैंने उससे फिर मिलने का इरादा पक्का किया। सोचने लगा—राजनाथ को एक पत्र लिख दूँ कि आब-हवा बदलने के लिए मैं फिर आपके यहाँ आना चाहता हूँ। पर हाथ में कलम लेने से पहले ही मन में झेंप गया; पत्र न लिख सका। निदान मैंने निश्चय किया—मैं वहाँ चलूँ, दो-चार दिनों तक इधर-उधर घूमता रहूँगा; यदि भाग्य से कहीं एकाएक राजनाथ से मुलाकात हो जा-यगी, तो कह दूँगा—मैं यहाँ आब-हवा बदलने आया हूँ, अभी आप ही के यहाँ जा रहा था।

मैं उसी दिन घर से चल पड़ा।

४

स्टेशन से जब उतरा, तो सोचने लगा—अब क्या करूँ—कहाँ जाऊँ?

एक ताँगे-वाले ने आकर पूछा—बाबूजी, कहाँ जाइयेगा?

मैंने एकाएक कह दिया—मैं शहर देखना चाहता हूँ। मुझे अपने ताँगे पर ले चलो।

ताँगे-वाले ने कहा—आज मरने के पास देवीजी की पूजा का बड़ा भारी मेला है। कहिये तो वहीं ले चलूँ।

मैंने कहा—चलो, देखूँ, यहाँ का मेला कैसा होता है।

कुछ दूर से देखा कि झरने के समीप आ गया हूँ। मैं ताँगे से उतरकर झरने के समीप चला गया। पूर्वकाल के सब दृश्य मेरी आँखों के सामने फिर गये। वहीं चुप-चाप बैठ गया।

कुछ देर बाद देखता हूँ कि सामने से एक ताँगा आ रहा है—मेरे समीप आ गया। मेरा हृदय उछल पड़ा। देखा—उसमें सपरिवार राजनाथ बैठे हैं। सहसा उनकी दृष्टि मुझपर पड़ी। मैं खड़ा हो गया। वह ताँगे से उतर पड़े। बड़े आश्चर्य के साथ उन्होंने पूछा—अरे विजय, तुम यहाँ कहाँ?

मैंने कहा—आब-हवा बदलने के लिए मैं अभी स्टेशन से यहाँ चला आ रहा हूँ। आपका शहर मुझे बहुत पसन्द आया है। अच्छा हुआ; आपका यहीं दर्शन हो गया।

उन्होंने कहा—तुमने खबर तक नहीं दी। यह तो सौभाग्य से आज देवी-पूजा थी कि तुमसे मुलाकात हो गई।

मैंने ताँगे की तरफ़ देखा—उस समय शान्ता एकटक मेरी तरफ़ देख रही थी। राजनाथ ने कहा—आज हम

लोग यहाँ देवी-पूजा के लिए आये हुए हैं। यहाँ से थोड़ी दूर पर देवी-मन्दिर है। तुम लोग यहीं रहो, मैं यहाँ पूजा का सब प्रबन्ध करके आता हूँ; तब सबको ले चलूँगा।

मैंने राजनाथ की माँ को नमस्कार किया। उन्होंने आशीर्वाद दिया। फिर मैंने शान्ता से पूछा—शान्ता, अच्छी तरह हो?

शान्ता ने केवल सिर हिला दिया। सब लोग ताँगे से उतर पड़े। राजनाथ प्रबन्ध करने के लिए चले गये। मैं और शान्ता टहलते-टहलते झरने के पास आकर बैठ गये। अब तक वह एकदम चुप थी। उसके मुँह से एक शब्द भी न निकला। मैं भी चुप था।

कुछ देर बाद मैंने कहा—शान्ता, जानती हो, मैं यहाँ क्यों आया हूँ?

उसने कहा—नहीं!

मैंने कहा—तुम्हारे प्रेम ने मुझे पागल बना दिया है। जिस दिन से मैं तुम्हें छोड़कर यहाँ से गया हूँ, उस दिन से मेरी बड़ी बुरी हालत है। मुझे तुम्हारे सिवा इस संसार में कुछ अच्छा नहीं लगता। मैं तुम्हें पहले समझाता था, मगर अब खुद मेरी समझ में कुछ नहीं आता। तुम्हारे

विना अब मेरा जीवन व्यर्थ है। मेरी प्रार्थना स्वीकार करो। मैं तुम्हारा हूँ, तुम मेरी हो जाओ।

जब मैं यह कह रहा था, तब वह बार-बार मेरी ओर देख रही थी। ऐसा प्रतीत होता था कि उसका हृदय उमड़ रहा है, और वह बहुत कुछ कहना चाहती है। आखिर उसने कहा—आपके वियोग में कितने ही दिनों तक मैं पागल थी। नित्य मैं आपकी आराधना करती थी। मेरे दिन और रात केवल आपके ध्यान में कट जाते थे—

मैं शान्ता की तरफ बड़े आश्चर्य से देखने लगा। वह कहती ही रही—

बहुत दिनों तक मेरी भी यही दशा थी। फिर जब आपकी बातें याद करती कि रूप नष्ट हो जाता है—शरीर मिट्टी में मिल जाता है, किन्तु आत्मा अमर है—तो हृदय को कुछ शान्ति मिलती। आपकी पुस्तकों ने मेरा बड़ा उपकार किया। नित्य मेरे विचारों में परिवर्तन होने लगा। और, अब मेरा आपके ऊपर सच्चा प्रेम है।

मैंने विह्वल होकर कहा—शान्ता, मेरे साथ चलोगी न?

उसने कहा—मुझे आश्चर्य है कि आपके अटल सिद्धान्तों में परिवर्तन कैसे हो गया! उस समय मैं भूली

थी। अब मुझमें एक नई शक्ति का प्रवेश हुआ है। आप मुझे क्षमा करें। मैं आपकी आराधना करूँगी; परन्तु अब मेरा वह वासना-मय प्रेम नहीं रहा।

मैं व्याकुल होकर कहने लगा—शान्ता! शान्ता! मेरे ही हथियारों से मुझे न मारो। मैं स्वयं मर रहा हूँ। मेरी प्रणय-पिपासा मृगतृष्णा के काल्पनिक जल से न बुझेगी। मुझे पीने दो—रूपरस से—इस सूखे हृदय को सींच दो। शान्ता! इस जीवन का सुख—स्वप्न देखने से—न मिलेगा। वह मेरा सपना था, जिसे तुम भी अब देखने लगी हो। अब अधिक न सताओ......!

कहते-कहते मैं उन्मत्त की भाँति उसके चरणों में गिर पड़ा। वह चौंककर खड़ी हो गई। मैं भी अवाक् होकर देखने लगा। झरना खिलखिलाकर हँस रहा था। फिर उसने तीखी निगाह से देखते हुये गम्भीर स्वर में कहा—यह नहीं हो सकता!

मैंने पूछा—क्या नहीं हो सकता शान्ता?

उसने दृढ़ स्वर से कहा—'कुछ नहीं'—और निगाहें नीची कर लीं।

× × × ×

बिना कहे मैं चल पड़ा। कब स्टेशन आया, कब रेल पर चढ़ा, कब घर आया—कुछ पता नहीं। घर पर उसी तरह नीरस दिन और कष्ट की रातें कटने लगीं। फिर मेरे कई मित्रों ने मुझे बीमार समझकर पहाड़ पर जाने की सलाह दी, परंतु मैं बहाना करता और उन्हें टाल देता। मैं सोचता कि स्वास्थ्य लेकर क्या करूँगा!

कई वर्षों के बाद निराशा से धीरे-धीरे मेरे विचार बदल गये। मेरे प्रेम का तूफान कुछ शान्त होने लगा। मैं क्रमशः प्रकृतिस्थ होने लगा। मुझे वह नशे का खुमार मालूम होने लगा। मेरी कल्पना का वेग कम हो चला। मैं पूर्ण स्वस्थ नहीं, तो अब बीमार भी नहीं।

एक दिन राजनाथ का पत्र मिला। उसमें लिखा था कि उनकी माँ और शान्ता तीर्थ-यात्रा के लिये यहाँ से सोमवार को जायँगी, बीच में तुम्हारा शहर भी पड़ेगा, उनसे मिल लेना।

मैं ठीक गाड़ी के समय स्टेशन पर पहुँचा। गाड़ी आई। मेरा हृदय उछल रहा था। कई डब्बे खोज डाले। सहसा शान्ता के दर्शन हुए। उसने बड़े नम्र भाव से नमस्कार किया। उस दिन मुझे वह एक देवी-सी प्रतीत हुई। उसमें अपूर्व शक्ति थी—एक असाधारण तेज था।

राजनाथ की माता से कुछ देर तक बातचीत होती रही। मैं दो स्टेशन तक उनके साथ गया। शान्ता बड़ी प्रसन्न थी। उसने मुझे पान देते हुए कहा—वह दिन याद है ?

मैंने कहा—वह दिन इस जीवन में नहीं भूलेगा।

मैं गाड़ी से उतर पड़ा। शान्ता और राजनाथ की माँ चली गईं। चलते समय शान्ता के नेत्रों से आँसुओं की बूँदें गिरते हुए मैंने देखी थीं।

कई वर्ष बीत गये। अब केवल एक स्मृति है। अब, कभी-कभी, शान्ता की स्मृति हृदय में जाग उठती है। मैं चुपचाप बैठकर, स्मृति की उसी अचल प्रतिमा के चरणों में आँसुओं के दो फूल चढ़ा देता हूँ!



१

हम मरने से नहीं डरते; मगर इस तरह का मरना वैसा ही है, जैसा वधिक द्वारा जँगलेवाली गाड़ी में पकड़े हुए कुत्तों का।

यह तुम्हारी भूल है।

मेरी भूल! कदापि नहीं, देखो—हम लोग भी कुत्तों ही की तरह जेल में बंद हैं! जब वधिक रस्सी का फन्दा बनाकर सड़क पर भागते हुए कुत्तों की ओर फेंकता है, तब देखनेवालों को तरस आता है और वे तालियाँ पीटकर 'धत्-धत्' चिल्लाते हुए उसे उस फन्दे से बचाना चाहते हैं। ठीक उसी तरह, जब हम लोग गिरफ़्तार होते हैं, तब दर्शक

'वन्दे मातरम् ! भारतमाता की जय !!' की पुकार मचाया करते हैं। यह ठीक वैसा ही है।

कानून भङ्ग करने, जेल जाने और असहयोग करने के सिवा, देश के पास और कोई साधन भी तो नहीं है।

गुलामी का बदला—गुलामी का बदला—दाँत पीस-कर कहते-कहते उनका मुँह आरक्त हो गया, सिर के बाल खड़े हो गये, भवें तन गईं और उन खुली आँखों में क्रांति की ज्वाला उठने लगी।

मैं आश्चर्य से उसकी ओर देखने लगा।

उसने फिर उसी स्वर में कहा—संसार के इतिहास में कोई भी ऐसा देश नहीं, जो बिना युद्ध के स्वतंत्र हुआ हो। स्वाधीनता का मूल्य मृत्यु है। सपना देखकर कोई मुक्त नहीं हो सकता। आदर्श सिद्धांत लेकर सब महात्मा नहीं बन सकते। मैं ईश्वर में विश्वास नहीं करता, मैं तो युद्ध में विश्वास करता हूँ। मैं कुत्तों की मौत नहीं चाहता, मैं योद्धा की तरह जूझना जानता हूँ।

मैंने बड़ा साहस करके कहा—मगर मैं तुम्हारी इन बातों में विश्वास नहीं करता, यह सब असम्भव है।

उसने पूछा—एकदम नहीं ?

मैंने कहा—नहीं।

न-जाने क्या समझकर वह चुप हो गया, फिर एक शब्द भी न बोला।

सन्ध्या अस्ताचल पर सो रही थी। हम दोनों जेल की चहारदीवारी के भीतर टहल रहे थे। वह पेड़ों के घने पल्लवों में अरुण किरणों का खेल देखने लगा। उसे लाल रङ्ग अधिक पसन्द था; क्योंकि वह क्रांति का उपासक था।

मेरी दृष्टि उस बूढ़े जमादार पर पड़ी। वह हमीं लोगों की ओर आ रहा था। उसने पास आकर हम लोगों की ओर देखते हुए पूछा—क्या भागने की तरकीब लगा रहे हो?

मैंने कुछ उत्तर न दिया; क्योंकि उसने अपनी पतली बेंत की छड़ी हिलाते हुए कई बार मुझपर अपशब्दों का प्रयोग किया था; मगर मेरा साथी यह सह न सका। उसने फौरन उत्तर दिया—जिस दिन भागना होगा, उस दिन तुमसे पूछ लूँगा।

जमादार मन-ही-मन भुनभुनाता हुआ चला गया। हम लोग भी कैदखाने की कोठरी में चले आये। उस दिन फिर उससे कोई बात नहीं हुई।

२

दमन आरम्भ हो गया था। असहयोग के दिन थे। जेलों की दशा मवेशीखानों से भी बदतर हो गई थी। खुली सभा में जोशीला भाषण देने के अपराध में मुझे भी छः मास की सज़ा मिली थी। जेल में ही मेरी-उसकी जान-पहचान हुई। पहली बार सामना होने पर उसने आँखें गड़ाकर मेरी ओर देखा था; जैसे कोई अपने किसी परिचित को पहचानने की चेष्टा कर रहा हो। कुछ देर बाद मेरे समीप आकर उसने पूछा—कितने दिनों के लिये आये हो ?

मैंने कहा—एक सौ बयासी !

वह मेरी तरफ देखता हुआ मुस्कराने लगा। परिचय बढ़ा, घनिष्ठता हुई।

मेरे-उसके विचारों और सिद्धांतों में बहुत अन्तर था; लेकिन फिर भी मैं उसकी वीरता का आदर करता था।

दिन पहाड़ हो गये थे।

मैं जेल के कष्टों से जब घबरा जाता, तब यही विचार करता कि—हे भगवान्, कब यहाँ से छुटकारा होगा। घर की चिन्ता थी—बाल-बच्चे भूखों मरते होंगे। क्या करूँ, कोई उपाय नहीं। ऐसी देश-सेवा से क्या लाभ ? यहाँ तो

घुल-घुलकर प्राण निकल जायगा; किन्तु हमारे इन कष्टों से जकड़े हुए जीवन की बातें कौन समझेगा ? इस अभागे देश के लिए कितनों ने प्राण निछावर कर दिये; मगर आज उनके नाम तक लोग भूल बैठे हैं। यह सब व्यर्थ है, अभी इस देश के लिए वह समय नहीं आया है।

और, जब उसकी ओर देखता, तब हृदय में साहस उमड़ पड़ता। वह हँसते-हँसते प्राण तक उत्सर्ग कर देने में नहीं हिचकता। उसे किसी बात की चिन्ता ही न थी। वह इतनी लापरवाही से जेल में घूमता, हँसता और बोलता; मानों जेल ही में उसका घर हो। उसकी इस दृढ़ता पर मैं मुग्ध था। अपने हृदय को मैं कभी-कभी टटोलने लगता। मैं सिद्धान्तवादी था—'अहिंसा परमो धर्मः'—मेरा आदर्श था। मुझ-जैसे लोगों को वह मन में कायर समझता था।

हमें आपस में बातें करने का कम अवसर मिलता था; क्योंकि हम लोग कैदी थे—गुलाम थे—राजद्रोही थे! वह अपने हृदय को खोलकर मुझे नहीं दिखा सकता था, और मैं भी अपनी बात उससे नहीं कह पाता था। पहरा बड़ा कड़ा था। जेल के निरंकुश शासन की जंजीरों में

हम जकड़े हुए थे। फिर भी हम एक दूसरे को देखकर सब बातें समझ लेते थे। हमारी मौन भाषा थी।

इस तरह पाँच महीने समाप्त हुए!

२

मैंने पूछा—इस बार जेल से निकलने पर क्या करोगे?

उसने कहा—डाका—हत्या—पूँजीपतियों का विध्वंस—गरीबों का राज्य-स्थापन!

मैंने पूछा—विवाह नहीं करोगे?

नहीं।

क्यों?

वह एक दृढ़ बन्धन है।

तुम्हारे घर में कौन-कौन हैं?

बूढ़े माँ-बाप और.........

और?—

कोई नहीं; बड़ा भाई काला-पानी भेज दिया गया!

"..................."

"..................."

तब माँ-बाप का निर्वाह कैसे होता है? घर की कुछ सम्पत्ति होगी?

राजपूताने में जागीर थी, वह अब जब्त हो गई है।

उनके प्रति भी तुम्हें अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिये।

उनकी आज्ञा और आशीर्वाद से ही तो मैं यह सब कर रहा हूँ।

क्या तुम्हारे इस कार्य से वे हिचकते नहीं?

नहीं। दुःख हम लोगों का सहचर है, और मृत्यु ही हमारा जीवन।

विचारों की इस भीषणता ने तुम्हारे हृदय को पत्थर बना दिया है!

हो सकता है।

तुमने कभी किसीको प्यार भी न किया होगा।

यह कैसे समझा?

तुम्हारी बातों से।

मेरे प्यार में मधुरता नहीं हो सकती, उसमें भी संसार को भस्म कर देनेवाली ज्वाला भरी है!

उस दिन बहुत देर तक उससे बातें होती रहीं। मुझे अपना समझकर उसने अपने प्रेम के सम्बन्ध में भी कुछ मुझसे कहा। वह एक दरिद्र की कन्या के प्यार को हृदय

में छिपाये हुए था। उसकी माँ ने उस गरीब बालिका से विवाह करने की अनुमति भी दे दी थी। लड़की के पिता को भी स्वीकार था; मगर उसने यह कहकर टाल दिया कि अभी मेरे विवाह का समय नहीं आया है। बालिका की अवस्था इस समय सोलह वर्ष की है, अभी तक वह उसकी प्रतीक्षा में बैठी है।

आगे उसने कहा—देखता हूँ, अविवाहिता रहकर वह अपना जीवन काट देगी! मैं सत्य कहता हूँ, उसपर मेरा पूर्ण विश्वास है। उसमें दैवी शक्ति है। वह सदैव मुझे उत्साहित करती रहती है। वह वीर बाला है। एक दिन उसने कहा था—मरने के लिए ही जन्म हुआ है—सदैव कोई जीवित नहीं रहेगा—फिर मृत्यु से भय कैसा? उसकी यह बात मेरे हृदय पर अङ्कित है, मैं आजन्म इसे न भूलूँगा।

मैं एकाग्र मन से उसकी बातें सुन रहा था।

इस घटना के तीन दिन बाद, दूसरी जेल में उसकी बदली हो गई—वह मुझसे अलग हो गया।

उसके चले जाने पर मेरे लिए जेल सूनी हो गई। जिस दिन उसकी बदली हुई थी, उस दिन चलते समय मेरी

ओर देखते हुए उसने कहा था—जेल से छूटने पर एक बार तुमसे भेंट करूँगा। आशा है, तुम मुझे न भूलोगे।

मैंने भी बड़ी सहृदयता से कहा था—तुम भूलने लायक व्यक्ति नहीं हो।

हथकड़ी-बेड़ियों को खनखनाते हुए—एक बार मुस्कुराकर मेरी आँखों से वह दूर हो गया।

उसके जाने के सातवें दिन बाद, मैं जेल के फाटक के बाहर निकला। कुछ दूर जाकर जेल की ओर उसी तरह देखता जाता, जैसे बन्दूक की आवाज सुनकर प्राण के भय से भागता हुआ हिरन कहीं छिपकर अपने शिकारी को देखता जाता है।

छः महीने जेल में काटने के बाद, मुक्त होने की प्रसन्नता से उछलते हुए, दौड़ते हुए, घर आकर देखा, तो ब्रह्मा की सृष्टि ही बदल गई थी। मेरे सामने अन्धकार नृत्य करने लगा।

आभूषण और घर का सामान बेचकर मेरी पत्नी ने छः महीने काम चलाया। मेरे पहुँचने पर घर में भूजी भाँग भी न थी। बड़े फेर में पड़ा। सरकारी नौकरी भी नहीं कर सकता था। व्यवसाय के लिये पूँजी न थी।

देश-सेवक का भेष बनाकर मैं भटकने लगा। कोई बात तक न पूछता।

दो वर्षों का समय केवल उलझनों में ही फँसा रहा। देशभक्ति के भाव दिन-पर-दिन शिथिल होते जा रहे थे।

एक दिन—पता नहीं, कौन-सा दिन था—मैं गृहस्थी का कुछ सामान लेने बाजार जा रहा था। मैं बड़ी जल्दी में था। कारण, जाड़े की रात थी। दूकानें आठ बजे तक बन्द हो जाती थीं।

मेरी बगल से घूमकर एक आदमी मेरे सामने आकर खड़ा हो गया। मेरी ओर ध्यान से देखकर उसने कहा—रामनाथ!

उसे पहचानने की चेष्टा करते हुए आश्चर्य से मैंने कहा—अ...म...र...सिंह!

उसने कहा—हाँ।

मैंने कहा—यह कौन-सा विचित्र वेश बनाया है? तुम्हें तो पहचानना कठिन है!

लेकिन तुमने तो पहचान लिया।

मुझे भी भ्रम हो गया था। जेल से कब आये?

दो महीने हुए। घर गया, तो माँ तड़प-तड़पकर मर

गई थी। बूढ़ा बाप पागलखाने भेज दिया गया था। वहाँ जाकर उनसे भेंट की थी। वे मुझे पहचान न सके। मैं चला आया। अब अकेला हूँ। इस बार फाँसी है, गिरफ़ार होते ही।

यह क्या कह रहे हो ? मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा है !

देखो—वह दो-तीन सी० आई० डी० आ रहे हैं। अच्छा, चला।

देखते-देखते वह गायब हो गया। मैं भय से काँप रहा था। उसका चेहरा कितना भयानक हो गया था—ओह !

४

अन्धकार था। सुनसान नदी का किनारा साँय-साँय कर रहा था। मैं मानसिक हलचल में व्यस्त घूम रहा था। अपनी तुलना कर रहा था—अमरसिंह से। ओह ! कैसा वीर-हृदय है ! और एक मैं हूँ, जो अपने सुखों की आशा में—गृहस्थी की झंझटों में—पड़ा हुआ मातृभूमि के प्रति अपना कर्त्तव्य भूलता जा रहा हूँ। मन में तूफान आया—अगर अमरसिंह से भेंट हो जाय—मैं फिर से उसके साथ ······वह प्रायः यहीं तो टहलने आता है। उससे भेंट हो जाय, तो क्या ही अच्छी बात हो।

मैं जैसे अमरसिंह को खोजता हुआ उसी अंधकार में घूमने लगा। कुछ देर बाद, एक क्षीण कंठ से सुनाई पड़ा—अमरसिंह !

मैं चौंक उठा। पूछा—कौन ?

उत्तर न मिला। मैंने कहा—डरो मत, मैं मित्र हूँ।···

अब एक रमणी सामने आकर देखने लगी। उसने कहा—मैं बड़ी विपत्ति में हूँ, आपसे यदि अमरसिंह से भेंट हो, तो उन्हें मेरे यहाँ भेज दीजिए।

आपके यहाँ ?—मैंने आश्चर्य से प्रश्न किया—आपका नाम ?

त्रिवेणी। उन्हें आज अवश्य भेज दीजिएगा।

न-जाने क्यों, उसकी बोली लड़खड़ा रही थी, और मेरा भी कलेजा धड़क रहा था। मैं 'अच्छा' कहकर कुछ विचार करने लगा। इतने ही में वह स्त्री चली गई।

मैं नदी-तट पर जाकर बैठ गया। चुपचाप उसके प्रवाह को देखने लगा। अस्पष्ट भावनाओं से मेरा मन चिन्तित था। अब मैं अधिक प्रतीक्षा न करके घर लौटने की बात सोचने ही लगा था कि मेरे कन्धे पर किसीने हाथ रक्खा।

मैंने पूछा—कौन ?

अमर !

तुम्हीं को तो खोज रहा था।

त्रिवेणी के यहाँ भेजने के लिए ?

तुम कैसे जान गये ?—मैंने आश्चर्य से पूछा।

अमरसिंह ने एक भयावनी हँसी हँसकर कहा—अपने जीवन-मरण के प्रश्न को मैं न जानूँगा, तो कौन जानेगा ?

मैंने कुतूहल से कहा—क्या ?

उसने कहा—रामनाथ, अच्छा हुआ कि घटना-वश तुम स्वयं इस बात से परिचित हो गये; नहीं तो मैं इस विश्वासघात को न कभी किसीसे कहता और न इसे कोई जान पाता।

विश्वासघात कैसा ?

जिसपर मेरा विश्वास था, उसी त्रिवेणी का कुचक्र है। एक दिन मैंने तुमसे कहा था कि वह वीर-बाला है, मेरी आराध्य देवी है, मेरे हृदय की शक्ति है; फिर जब वही संसार के प्रलोभनों में फँसकर मेरे जीवन का अन्त कर देना चाहती है, तब मैं उसके लिए क्यों लोभ करूँ ?

तुम क्या कह रहे हो अमरसिंह ?

एक सच्ची बात।

तब तुम न जाओ।

ऐसा नहीं हो सकता, जाऊँगा और प्राण दूँगा।

नहीं, तुम मातृभूमि के लिए जीओ—

नहीं भाई, मातृभूमि के लिए मरना होता है।

किन्तु यहाँ तुम भूल कर रहे हो।

नहीं, रामनाथ, दिल टूट गया है। अब लुक-छिपकर जीवन की रक्षा करने का समय नहीं है। जाता हूँ।

अमरसिंह को रोकने का मेरा साहस न हुआ। उस अंधकार में जैसे उसकी आँखों से चिनगारियाँ निकल रही थीं।

मैं घर लौट आया।



उलझन

१

रात हो चली थी। रामेश्वर अपने कमरे में लेटा हुआ लम्प के धीमे प्रकाश में किसी समाचारपत्र के पन्ने उलट रहा था। उसी समय बगल के कमरे से एक चीत्कार हुआ और फिर धमाधम का शब्द !

वह आश्चर्य से आहट लेने लगा। मालूम हुआ, कोई पुरुष किसी स्त्री को पीट रहा है। वह चौकन्ना होकर बैठ गया।

बूढ़ी समझा रही थी—जाने दो, अब न मारो, बस हो गया। पर वह निर्दय किसीकी नहीं सुनता था।

सामने आये। उन लोगों ने कहा—हमलोगों के सामने आप अब ऐसा निन्दनीय कार्य नहीं कर सकते।

निरञ्जन की अवस्था वैसी ही जटिल हो गई, जैसी उस दारोगा की होती है, जो किसी सत्याग्रही को गिरफ़ार करके ले जाता है और जनता उसपर घृणा तथा तिरस्कार की वर्षा करती है!

निरञ्जन शान्त हो गया। उसकी स्त्री ने अपनी डब-डबाई आँखों से रामेश्वर की ओर देखा। उसी दिन से उसके हृदय में रामेश्वर के प्रति श्रद्धा का भाव निवास करने लगा।

निरञ्जन की स्त्री का नाम था उर्मिला।

२

यदि किसीसे पूछा जाय कि संसार में सबसे बड़ा सुख का साधन क्या है, तो वह यदि झूठ न बोले, तो उसका उत्तर होगा—नारी!

लेकिन इसी दुनिया में बहुतेरे ऐसे लोग भरे पड़े हैं, जिनका जीवन स्त्रियों ही के कारण हाहाकारमय हो गया है। वे प्राण देकर भी उस बन्धन से मुक्त होने के लिए प्रस्तुत हैं। निरञ्जन भी ऐसे ही लोगों में से था।

जिस उर्मिला के स्वागत में सम्भवतः कोई नवयुवक आँखें बिछाकर दिन और रात एक कर देता, वही उर्मिला निरञ्जन के लिए विष की प्याली बन गई है !

उस दिन से रामेश्वर के मन में उर्मिला के प्रति एक स्वाभाविक सहानुभूति जाग्रत हुई । अपने कमरे में बैठकर वह प्रायः उर्मिला की बातें सुना करता था, जिनसे वह उसके सम्बन्ध में कुछ अधिक पता लगा सके—उसके स्वभाव का अध्ययन कर सके ।

इतने दिनों में रामेश्वर को ऐसा प्रतीत होने लगा कि उर्मिला सुन्दरी है, सरल है, नम्र है और परिश्रमी भी है । फिर उसे पाकर निरंजन संतुष्ट क्यों नहीं होता !

चार बजे सबेरे से उठकर उर्मिला जो गृहस्थी के काम में लगती, तो फिर उसे दिन-भर जैसे अवकाश ही न मिलता कि कभी वह अपने सुख की सुन्दर कल्पना में लीन हो । और, इसपर भी जब उठते-बैठते, वह बूढ़ी—निरंजन की माँ—व्यंग के बाण छोड़ती, तो उसका हृदय तिलमिला उठता ।

उर्मिला आत्माभिमानिनी थी । बुढ़िया की दृष्टि में यह सबसे बड़ा अपराध था; वह चाहती थी कि जिस तरह

दिन-भर उर्मिला काम करती है, उसी तरह बीच-बीच में कभी-कभी दो-चार खरी-खोटी बातें भी सुनकर अपने भाग्य को सराहे—और उसका उत्तर, मुँह फुलाकर नहीं, बल्कि हाथ जोड़कर, दे।

निरंजन की माँ की इस प्रवृत्ति को वे लोग भली भाँति समझ सकते हैं, जिन्हें कभी हिन्दूसमाज के गार्हस्थ्य जीवन में ऐसी दो-चार बूढ़ियों को देखने और समझने का अवसर प्राप्त हुआ हो।

युवतियाँ संकट के समय भी उल्लास-भरे मन से हँसती-बोलती हैं, यदि पति के स्नेह की शीतल छाया के नीचे दो घड़ी विश्राम करना उनके भाग्य में बदा हो।

किन्तु उर्मिला के भाग्य में वह भी न था। उसका पति न जाने क्यों ऐसा नीरस था, जैसे जवानी की उन्मत्त आकांक्षाओं से तृप्त हो चुका हो। ठीक भी है, उसका यह दूसरा विवाह था; पहली स्त्री मर चुकी थी।

निरंजन की प्रवृत्ति विवाह की ओर नहीं थी; किन्तु अपनी माँ के कष्टों का ध्यान करके उसे विवाह करने के लिए बाध्य होना पड़ा।

कुछ लोग ऐसी मनोवृत्ति के भी होते हैं, जिनके मस्तिष्क

में पत्नी का अर्थ 'दासी' और विवाह का अर्थ 'गुलामी का पट्टा' होता है !

संभव है, निरंजन ने अपने विवाह के समय इसी मंत्र का प्रयोग किया हो।

२

रामेश्वर अकेला था। उसके घर-गृहस्थी न थी। वह दफ़्तर में नौकरी करता, होटल में भोजन करता और किराये पर एक कमरा लेकर वहीं सोता था। जिस मकान में वह रहता था, उसके निवासी तथा पड़ोसी तक यह नहीं समझ सके थे कि रामेश्वर किस देश का निवासी है, उसके घर में कौन-कौन हैं, इत्यादि। कभी उससे कोई पूछता भी, तो वह कहता—मैं अकेला हूँ—ऐसा अकेला, जिसका कोई 'अपना' नहीं है।

अधिकतर रामेश्वर के सम्बन्ध में लोग अनुमान से ही काम लेते। वह सबके लिये एक पहेली बन गया था।

रामेश्वर जब कभी उर्मिला को मैली धोती पहने हुए गृहस्थी के कार्य में व्यस्त देखता, तब उसके हृदय में दर्द-भरी टीस होती।

रामेश्वर दफ़्तर से लौटा था। अपने कमरे के सामने

आकर उसने देखा—दरवाजे में जो ताला लगा हुआ था, वह खुला है। सामने उर्मिला खड़ी थी। निरंजन की माँ घर में नहीं थी, वह किसी सम्बन्धी के यहाँ गई थी।

रामेश्वर ने उर्मिला की ओर देखा—वह जैसे कुछ बोलना चाहती थी। उसने आँखें नीची करते हुए कहा—आज आप ताला बन्द करना शायद भूल गये थे!

कमरा खोलते हुए रामेश्वर ने कहा, मेरे पास है ही क्या? फिर भीतर जाकर उसने देखा, कमरे का बिखरा हुआ सामान क्रम से सजा रक्खा है। उसे नवीनता मालूम हुई। कमरा जैसे बोल रहा था! उर्मिला कुछ और समीप आ गई थी।

रामेश्वर ने पूछा—मालूम होता है, इस कमरे को जीवन-दान देनेवाली तुम्हीं हो।

उर्मिला की एक गंभीर मुस्कुराहट ने रामेश्वर के शरीर में बिजली दौड़ा दी।

वह आपसे बहुत रुष्ट हैं—उर्मिला ने कहा।

कौन? निरंजन?

हूँ!

क्यों?

उस दिन जो आप मेरी तरफ से बोले थे !

उसमें रुष्ट होने की क्या बात थी ? वह उनका अन्याय था ।

मेरे भाग्य फूटे हैं !

इसमें सन्देह नहीं उर्मिला ! तुम्हें पाकर कोई भी पुरुष अपने दिन सुनहले बना सकता है ।

उर्मिला अपनी दृष्टि दौड़ाने लगी, क्योंकि बूढ़ी के आने का समय हो गया था । 'कहीं किसीने हमारी बातें सुन तो नहीं लीं ?'—यही प्रश्न क्षण-क्षण उसे सताने लगा ।

इतने में उसने देखा, सचमुच सीढ़ियों पर बूढ़ी चढ़ रही है । उर्मिला भय से काँपती हुई अपने कमरे में घुस गई, लेकिन रामेश्वर उसी तरह खड़ा रहा ।

निरञ्जन की माँ का दम फूल रहा था । वह हाँफती हुई रामेश्वर की ओर वैसे ही देखने लगी, जैसे मदारी के सटके की नागिन !

रामेश्वर उस श्रेणी का नवयुवक है, जिनका सिद्धान्त यह होता है कि यदि हम सत्य और उचित मार्ग से चलते हैं, तो हमें भय किसका है ।

वृद्ध लोग बहुधा ऐसे विचारों को जवानी की उच्छृ-ङ्खलता अथवा अक्खड़पन समझकर नाक-भौं सिकोड़ लेते हैं !

रामेश्वर अभी तक निर्णय नहीं कर सका था कि वास्तव में उर्मिला के प्रति उसके ऐसे सद्भाव क्यों हैं ! क्या यह प्रेम का अंकुर है ? पता नहीं, किन्तु रामेश्वर यही समझता है कि उर्मिला की दयनीय दशा के कारण ही उसके हृदय में उस अभागिनी के प्रति सहानुभूति है। इसमें उसकी कोई निन्दा करे, तो उसे इसकी परवा नहीं।

दुनिया तो बड़े-बड़े दार्शनिकों, महात्माओं और विद्वानों तक की निन्दा करती है। इससे क्या होता है ? इसके लिए रामेश्वर सन्तोष किये बैठा है।

रामेश्वर अब वहाँ व्यर्थ खड़ा रहना उचित न समझ अपने कमरे में चला गया।

बुढ़ी, रामेश्वर की ओर भयानक दृष्टि से देखती हुई, आगे बढ़कर अपने कमरे में गई। उसकी कर्कश गर्जना में जली-कटी बातें आपस में टकराती चली जा रही थीं। कोई भावुक आगे खड़ा होकर सुनता, तो अवश्य ही कहता, यह रबड़-छन्द में बोल रही है।

सवेरे मकान की अन्य स्त्रियाँ आपस में बातें कर रही थीं। रात-भर निरञ्जन और उसकी माँ की नीचता ने किसी-को सोने न दिया था।

निरञ्जन ने उर्मिला को ऐसा मारा था कि उसकी नाक से खून बहना बन्द नहीं हुआ था।

किन्तु रामेश्वर उस दिन कुछ न बोला। वह चुपचाप सब सुनता रहा—देखता रहा।

४

दिन, अँधेरी रात की तरह, काले हो गये थे।

आज दिन-भर रामेश्वर का मन बड़ा उदास था। वह अपने जीवन की बिखरी उलझनों को बटोरकर कहीं भाग जाना चाहता था। उसे ऐसा प्रतीत होता कि इस नगर के कोलाहल में शान्ति, सुख और कुछ रस नहीं है।

'घर, स्त्री, बच्चे; कोई नहीं—फिर कैसा बन्धन? अकेला रहने में भी चैन नहीं, कोई मजा नहीं। इस दुनिया में किसी तरह सुख नहीं—सुख कहाँ है? मनुष्य कैसे पाता है?' इन प्रश्नों पर हज़ारों बार रामेश्वर विचार कर चुका है; लेकिन आज तक इन्हें वह सुलझा न सका।

संसार में कोई अपना न होते हुए भी सबको अपना

समझना पड़ता है। किसीको अपना समझ लेने से कितना बड़ा सुख अट्टहास करता है!

एक मकान में रहते हुए भी रामेश्वर ने दो दिनों से उर्मिला को देखा न था। बूढ़ी उसे कमरे के बाहर निकलने नहीं देती थी।

प्रभात का समय था। उर्मिला बहुत तड़के ही उठी थी। उसे रामेश्वर से कुछ आवश्यक बातें करनी थीं। वह अवकाश ढूँढ़ रही थी। उसके घरवाले अब सो रहे थे। बाहर आकर उसने देखा, रामेश्वर का कमरा बन्द था। वह कैसे जगाती? उसका साहस नहीं होता था; एकाएक उसने द्वार पर धक्का दिया। रामेश्वर ने द्वार खोला; उसने आश्चर्य से, आँखें मलते हुए, उर्मिला को देखा।

उर्मिला ने बहुत शीघ्रता से और धीमे स्वर में कहा—आपसे एक बहुत जरूरी बात कहनी है।

क्या?

वे लोग इस मकान को छोड़ रहे हैं।

मेरे कारण?

हाँ, इस मकान में अधिक सुविधा के साथ वे मुझे भरपूर कष्ट नहीं दे पाते, इसीलिए।

इधर कई दिनों से मैं स्वयं इस कमरे को छोड़ देने का विचार कर रहा हूँ। अब मुझसे देखा नहीं जाता; किन्तु मेरा क्या वश है ?

परसों जानेवाले हैं, दूसरा मकान ठीक हो गया है।

तो तुम यहाँ से चली जाओगी ?

मृत्यु ही मेरे कष्टों को छुड़ा सकती है, किन्तु भगवान यह भी नहीं देते। ओह ! अब नहीं सहा जाता।

उर्मिला के नेत्रों से अविराम अश्रुधारा बह रही थी। एक दर्द-भरी आह खींचकर वह चली गई।

रामेश्वर आज दफ़्तर नहीं गया। उसका अव्यवस्थित मन इधर-उधर भटकने लगा। वह क्या करे, क्या न करे—यह नहीं समझ पाता था।

समाज के इन प्रचलित नियमों को कौन बदल सकता है ? निरञ्जन से अलग होकर उर्मिला कहीं जा नहीं सकती ? क्या उसे अधिकार है ? नहीं।

किन्तु, निरंजन जिस दिन चाहे, उसे दूध की मक्खी की तरह निकाल सकता है !

रामेश्वर स्वयं अपने मन से पूछने लगा कि उसे क्या अधिकार है कि उर्मिला के हृदय के सम्बन्ध में इस तरह

के सैकड़ों विचारों में उलझता रहे। उर्मिला, निरंजन की स्त्री है; वह जो चाहे करे!

क्या रामेश्वर उसे अपनी बनाना चाहता है? नहीं तो! संभव है कि वह यह भी जानता हो कि दूसरे की स्त्री को अपनी बनाकर वह कभी सुखी न रह सकेगा। फिर?

वह उर्मिला को सुखी देखना चाहता है। आज उर्मिला उससे जो बातें करने आई थी, उसका तात्पर्य यही तो नहीं था कि उसके कारण ही परिस्थिति और भयानक होती जा रही है और वह खुलकर उसे चले जाने के लिये न कह सकी हो।

उसने निश्चय किया—अब, यहाँ रहने से, उर्मिला के कष्ट मेरे ही कारण बढ़ते जायँगे। अतएव, यह कमरा छोड़ देना ही मेरा कर्त्तव्य है।

रामेश्वर उसी दिन मजदूरों को लाकर अपना सामान होटल में उठवा ले गया।

अपने जीवन के पिछले दिनों में रामेश्वर के मन में यही उलझन रहती थी कि उसके मकान छोड़ देने में उर्मिला सहमत थी या नहीं!

स्वराज्य कब मिलेगा ?

१

इस संसार में कोई पता लगाये, तो उसे मालूम होगा कि प्रशंसकों से अधिक निन्दकों की संख्या है। ऐसा एक भी भाग्यशाली मनुष्य न होगा, जिसकी सभी प्रशंसा करने-वाले हों।

केशव भी एक ऐसा ही मनुष्य था। दुनिया के लोग चाहे जो कुछ कहें, इसकी उसे कुछ परवा नहीं; पर उसकी अपनी स्त्री जब भीषण आकृति बनाकर उसकी कीर्त्ति का गान करती है, तब उसका हृदय आग हो उठता

है। यही उसे सबसे बड़ा दुःख था। वह मन मसोसकर रह जाता।

केशव गरीब था, नशे का गुलाम था। जो कुछ पैसा आता, स्वाहा हो जाता और सदैव ही अपनेको अभाव के पंजे में जकड़ा हुआ देखता। वह हजार बार मन में निश्चय कर चुका कि अब अपनी कमजोरियों को सुधार के बन्धन में बाँधकर अपने जीवन को सुखी बनावेगा; लेकिन नशे ने उसे बरबाद कर दिया।

जब उसका कोई हितैषी समझाते हुए कहता—इस नशे के कारण तुम कितने दुर्बल होते जा रहे हो! देखो, आँखें बैठ गई हैं, शरीर लकड़ी हो रहा है; तब वह मुस्कराते हुए कहता—अरे भाई, मुझे तो बिला नशे के आदमी की सूरत प्रेत-सी मालूम पड़ती है।

समझानेवाला भी हँस पड़ता। ऐसा विचित्र था केशव!

वह गप्पी भी साधारण न था। गाँजे का दम लगाकर वह इन्साइक्लोपीडिया-ब्रिटानिका बन जाता। महात्मा गांधी ने ऐसा मन्त्र मारा कि अंग्रेजों की बुद्धि भ्रष्ट हो गई—यह उसका अंतिम उत्तर कभी-कभी देश की राजनीतिक अवस्था पर होता।

केशव था तो अपढ़; लेकिन कभी नशे में ऐसी अनूठी बातें कहता, जो उसके पास बैठे हुए साथियों की समझ में न आतीं। वे झूठ ही हाँ-में-हाँ मिलाते जाते—यह समझकर कि केशव के नशे पर रंग चढ़ गया है।

मगर यह सब बातें बाहर के लिए ही थीं। घर में घुसते ही केशव अपराधी के समान अपनी पत्नी के सम्मुख खड़ा हो जाता। उसकी दुनिया-भर की योग्यता खाक में मिल जाती। अपनी कायरता के प्रति सैकड़ों जली-कटी बातें सुनकर भी वह चुप रहता। यही उसकी विशेषता थी।

कभी किसी दिलदार गप्पी से भेंट हो जाने पर रात को उसके जल्दी घर पहुँचने में अवश्य ही बाधा पड़ जाती थी। वह झुकझुकाता हुआ घर पहुँचता। द्वार खटखटाता। बहुत देर के बाद आँखें मलते और बड़बड़ाते हुए उसकी अर्धांगिनी ऊपर से कहती—जाओ, जहाँ इतनी देर तक थे, वहीं जाकर सोओ; यहाँ आने का क्या काम था ?

दाँत निकाले हुए उस घोर अंधकारमयी रात्रि में केशव कहता—अरी, खोल दे, अब से फिर कभी विलम्ब न करूँगा।

केशव के सैकड़ों बार गिड़गिड़ाने पर कहीं वह पिघ-

लती। बड़ी शोख़ औरत थी। भला-बुरा जजमेंट दे ही देती थी। उसकी इस शाही तबीयत पर कोई हँसता, कोई मुस्कुराता !

२

उन दिनों देश में नई हलचल मची हुई थी। स्वतंत्रता के प्रभात में जागृति की किरणें फैल चुकी थीं। जीवन-मरण का प्रश्न खिलवाड़ हो गया था। केशव की अब सब-से बड़ी असुविधा यह थी कि वह पहले की तरह आसानी से अपने नशे की चीज़ नहीं पा सकता था। लुक-छिपकर किसी तरह इतने दिन कटे थे; किन्तु अब समय बड़ा विकट आ गया। उसको भली भाँति प्रतीत होने लगा कि देश की वर्त्तमान समस्या के प्रति वह घोर अन्याय कर रहा है।

"एक वे हैं, जो दूसरों की भलाई के लिये अपने प्राण तक अर्पण करने को प्रस्तुत हैं और एक मैं हूँ........." ये विचार अनेक बार केशव के हृदय में उठे थे। प्रति-दिन वह निश्चय करता—अब कल से नशा नहीं करूँगा। सवेरा होता, दोपहर बीतती, संध्या हो जाती और वह नशे के लिए विकल हो उठता। उस पिकेटिंग के युग में भी अपनी कार्यसिद्धि पर उसे प्रसन्नता होती।

उस दिन की घटना कुछ ऐसी विचित्र हुई कि केशव का मन बदल गया। जीवन में पहली बार उसे अपने ऊपर घृणा हुई।

संध्या हो गई थी। चारों ओर मनहूसी छाई हुई थी। रोजगारी, व्यापारी, ज़मींदार, किसान, सभी हाहाकार कर रहे थे। नशे के ठीकेदारों की तो जीविका ही नष्ट हो रही थी। दिन-भर वे हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहते ; उनकी मातमी सूरत पर आगामी इतिहास के कुछ पन्ने स्पष्ट दिखाई दे रहे थे।

'महात्मा गांधी की जय !

भारत-माता की जय !!

वह देखो। गाँजा खरीदनेवाला आ गया है।'

स्वयंसेवकों का दल चौकन्ना होकर देखने लगा। केशव खिड़की के सामने आकर खड़ा हो गया। देखा, उस जूते सीनेवाले मोची के चरणों पर कितने ही सनातनधर्मियों की सन्तानें अपना मस्तक पवित्र कर रही थीं; मगर वह किसीकी नहीं मानता था। हाथ जोड़कर, पैर पकड़कर, बहुतेरा समझाया; पर वह किसी तरह न माना—अटल हिमाचल बना रहा।

भीड़ में से किसीने कहा—अरे यह पुलिस का भेजा हुआ है।

दूसरे ने इसका समर्थन किया—ऐसा ही है साला !

केशव चुपचाप एक कोने में खड़ा यह सब दृश्य देख-सुन रहा था।

कोलाहल मचा। भीड़ के लोग उसे चपत मार रहे थे। स्वयंसेवक ऐसे लोगों को मना कर रहे थे। दो स्वयंसेवक दोनों पैर पकड़े हुए बैठे थे। स्थिति भयानक होती जा रही थी।

उसी समय लाल-पगड़ी का दल सामने आता दिखाई दिया। दर्शक देशभक्त लोग जान लेकर भाग चले ! जनता खलबला उठी। स्वयंसेवक साहस के साथ डटे रहे।

दारोगा ने आगे बढ़कर स्वयंसेवकों को हटाने की चेष्टा की; किन्तु सफल न हुआ। अन्त में झुँझलाकर उसने हंटर-प्रहार करना आरम्भ किया।

केशव अब तक देखता रहा। अब उसकी सहन-शक्ति के बाहर की बात हो गई। उसने बड़ी दृढ़ता से कहा—

'छिः ! इस तरह निरपराध बालकों को पीटते आपको लज्जा नहीं आती ? धिक्कार है !'

'इसे भी पकड़ो !'—कहते हुए दारोगा ने सिपाहियों की ओर शासन-भरी दृष्टि से देखा।

आज्ञा का पालन हुआ। केशव को भी पकड़कर उन स्वयंसेवकों के साथ ले चले।

मकानों की छत पर से स्त्रियों ने कहा—वन्देमातरम् !

बालकों का झुंड चिल्ला उठा—इनक़लाब ज़िन्दाबाद !

उस वर्ष, देश के प्रत्येक नगर में, प्रति दिन ऐसी घटनाएँ होती रहीं।

३

बरसात की काली रात सन्नाटे से आलिंगन कर रही थी। मनुष्य, पक्षियों की भाँति, संध्या से ही अपना मुँह छिपाकर घर में पड़े रहते थे। प्रति दिन तलाशियों की धूम मची थी। राजभक्त लोग भी न बच सके। देश के अधिकांश नेता गिरफ़्तार कर लिये गये थे। हड़ताल के कारण बेकारी बढ़ रही थी। नगर में ऐसा भयानक दृश्य था, मानों महाश्मशान पर भैरवी नृत्य कर रही हो। बड़ी विकट समस्या थी !

केशव पिट जाने और गालियाँ खाने के बाद थाने से बाहर निकाल दिया गया। पानी बरस रहा था। उस सून-

सान सड़क से वह चला आ रहा था। उसके हृदय में प्रतिहिंसा के भाव जाग्रत हुए। वह जैसे समस्त अत्याचार को पल-भर में प्रलय की अशान्त लहरों में डुबो देने की कल्पना में लीन हो गया।

सहसा कुत्तों के भूँकने से वह सचेत हुआ। घर न जाकर वह कांग्रेस के शिविर की ओर चला। वह अपने अटल प्रण पर दृढ़ता की साँस भरते हुए शिविर के द्वार पर खड़ा हो गया। मन्त्री अभी तक बैठे काम कर रहे थे। कल नगर-भर के कार्यकर्त्ताओं का सम्मिलित जलूस निकलेगा, और बड़ी जोरदार सभा होगी—उसीकी व्यवस्था में सब व्यस्त थे।

मन्त्री ने बाहर देखते हुए कहा—कौन है ?

मैं हूँ।

भीतर आइये।

केशव चुपचाप सामने जाकर खड़ा हो गया। लोग ध्यान से उसे देखने लगे। उसने अपना सब वृत्तान्त सुनाकर कहा—आज से मैं अपना जीवन स्वतंत्रता के चरणों पर उत्सर्ग करने के लिए उद्यत हूँ। मेरा भी स्वयंसेवकों में नाम लिखिए।

कांग्रेस के रजिस्टर में केशव का नाम स्वयंसेवकों में

लिख लिया गया। उस दिन से केशव ने एक नवीन संसार में पदार्पण किया।

४

कुछ समय बीता। नगर में कोलाहल मचा हुआ था। कांग्रेस का दफ़्तर गैर-कानूनी बताकर जब्त कर लिया गया। सभी प्रमुख नेता जेल चले गये थे। 'आर्डिनेन्सों' का बोलबाला था।

अमावस्या की रात थी। गली में बड़े धड़ाके की आवाज़ आने लगी! लोग बड़े आश्चर्य और कौतूहल से अपनी खिड़कियों से झाँकने लगे। लोगों ने देखा, एक आदमी टिन का कनस्तर लकड़ी से पीट रहा है। एकाएक वह गली के मोड़ पर खड़ा हो गया और एक स्वर से कहने लगा— भाइयो, सावधान हो जाओ; हमारी राष्ट्रीय महासभा का प्रत्येक कार्यालय जब्त कर लिया गया है। अब हम लोगों का कहीं ठिकाना नहीं है। इसीपर विचार करने के लिए कल······पर सभा होगी और दिन-भर हड़ताल रहेगी।

कहता हुआ वह आगे बढ़ गया। स्त्रियाँ भय से काँप रही थीं। पुरुष वर्तमान अवस्था के भविष्य पर टीका-टिप्पणी कर रहे थे।

कल सभा में जाने का साहस छूट गया था। तिरंगा झंडा लेकर और रंग-बिरंगे कपड़े पहनकर टिड्डियों की तरह निकलनेवाला जन-समूह न जाने कहाँ चला गया था। अब देश की स्वतंत्रता के लिए तलवार की धार पर चलनेवाले सैनिकों की माँग थी। हड़ताल की सूचना देनेवाला इसी तरह का सैनिक प्रतीत होता था; क्योंकि ठीक चौमुहानी पर पुलिस-कान्स्टेबिल के सामने खड़ा होकर उसने उसी दृढ़ता से कनस्तर पीटते हुए उन्हीं शब्दों को दुहराया, और आँखें गड़ाता हुआ चला गया।

इधर-उधर नगर के अनेक भागों में अपना कार्य सम्पन्न करते हुए वह अपने घर की ओर विजयी सैनिक की भाँति चला आ रहा था।

ठीक अपने मकान के सामने खड़ा होकर उसी तरह कनस्तर पीटते हुए उसने कहा—कल लड़ाई होगी, देश के प्यारे नौजवानो! तैयार रहो।

ऊपर से किसी स्त्री ने कहा—भला-भला, सुन लिया गया—जाओ अब।

पड़ोस के किसी आदमी ने पूछा—कल क्या हड़ताल है केशव ? इस हड़ताल ने तो जान मार डाला यार !

'वह समय अब आ गया भाई—देखो न, अपनी आँखों से देखोगे।'—कहता हुआ केशव अपने घर में घुस गया।

अपनी कोठरी में पहुँचकर केशव ने एक कोने में कनस्तर रख दिया और खूँटी पर टोपी-कुरता उतारकर टाँग दिया। उसकी पत्नी चुपचाप उसकी ओर देख रही थी। केशव दिन-भर का थका हुआ था। वह चारपाई पर बैठ गया। उसकी स्त्री ने पूछा—यह रोज़ दूकानें बन्द करने से आखिर क्या फायदा होता है ?

अपढ़ केशव ने बड़ी गंभीरता से कहा—इससे यह मालूम होता है कि लोग महासभा की आज्ञा मानते हुए एकता को अपना रहे हैं और एकता होने पर स्वराज्य बहुत शीघ्र मिलेगा।

कल क्या होगा ?—उसकी स्त्री ने उत्सुकता से पूछा।

कल जीवन-मरण का प्रश्न है।

क्यों ?

मन्त्री कहते थे कि कल अवश्य ही रक्तपात होगा। हुक्म नहीं है सभा करने का; लेकिन उसकी परवा न करते हुए सभा अवश्य होगी, और पुलिस अपनी लाठियों का खेल दिखलायेगी।

तब तुम कल मत जाना।

यह कैसे हो सकता है ? इस शान्तिपूर्ण युद्ध में मरने के बाद भी स्वर्ग है—स्वतंत्रता है।

इसके बाद केशव बहुत देर तक अपनी स्त्री से जी खोल-कर बातें करता रहा। स्त्री के अनेक प्रश्नों का उसने बड़ी समझदारी से उत्तर दिया। उसकी आँखें चमक रही थीं और मुखड़े पर एक अपूर्व कान्ति अपना तेज प्रकट कर रही थी।

५

पुलिस ने 'पार्क' की चहारदीवारी को घेर लिया था। भीतर सभा हो रही थी। सड़क पर सैनिक परेड कर रहे थे।

सभा में सम्मिलित होने के इच्छुक कायर बन रहे थे। गली की भीड़ में से और इधर-उधर अपने घर की छत से लोग यह भयानक दृश्य देख रहे थे।

पुलिस किसी आज्ञा की प्रतीक्षा कर रही थी। इतने में एक अफसर ने आकर कहा—सभा भंग कर दो।

उस समय एक महिला वक्तृता दे रही थी। लोग शान्त बैठे सब देख रहे थे। वक्तृता देनेवाली महिला के शब्द गूँज रहे थे—'हमें आज्ञा मिली है कि सैकड़ों लाठियाँ खाने

पर भी हम हिंसा के कार्य न करें—हँसते-हँसते अपने प्राणों का उत्सर्ग कर दें। देश की स्वतन्त्रता के लिए यही हमारा कर्त्तव्य है, और वह समय आज आकर सामने खड़ा हो गया है। उसके लिए अब आप तैयार हो जाइये।

सभा भंग करने की आज्ञा पर किसीने ध्यान नहीं दिया। ठीक उसी समय लाठियों का प्रहार आरम्भ हुआ।

सभा में कुछ महिलाएँ भी बैठी थीं।

एक पुलिस सिपाही आगे बढ़कर महिलाओं के ऊपर झुका! केशव भी उछलकर वहाँ जा पहुँचा।

उसने उत्तेजित स्वर में कहा—तुम्हें लज्जा नहीं आती अपनी माँ-बहनों पर आक्रमण करते ?

उसी क्षण वह महिलाओं को अपनी छाया में आश्रय देकर खड़ा हो गया।

उसके प्रश्न का उत्तर शब्दों से नहीं, लाठियों से मिला। रक्त की धारा बह चली! बेचारा बुरी तरह घायल हुआ। गिरने पर भी दो लाठियाँ और पड़ीं।

उसका माथा फट गया था। आँखें निकल आई थीं। धीरे-धीरे उसकी साँस चल रही थी। महिलाएँ अपने आँचल से उसका रक्त पोंछ रही थीं।

देखते-देखते केशव क्षण-भर में मृत्यु की गोद में सो गया।

'नहीं रखनी जालिम सरकार' की आवाज़ से आकाश-मंडल गूँज उठा !

एक वर्ष समाप्त हुआ।

समझौते का डंका बज उठा। आंदोलन रोक दिया गया।

समस्त संसार में बेकारी बढ़ गई। व्यवसाय नष्ट हो गया। प्रत्येक मनुष्य पैसों के नाम पर उदासीनता प्रकट करने लगा। और, भारतवर्ष का तो सर्वनाश ही समझिये।

महात्मा गांधी लंदन गये। नेताओं का बाजार कुछ शिथिल-सा हो गया। गरीबों के सामने रोटी का प्रश्न बड़ा जटिल हो उठा।

केशव की पत्नी को विश्वास था कि अपने पति को खोकर भी उसे रोटी के लिए चिन्ता न रहेगी; स्वराज्य हो जायगा, और फिर तो उसे न जाने क्या-क्या मिलेगा।

किन्तु उसकी आशा प्रगाढ़ अंधकार में डूब रही थी। हताश होकर स्वयंसेविकाओं में उसने भी नाम लिखा लिया। प्रायः शराब की दूकान पर पिकेटिंग करते हुए

जब उसके साथ की स्त्रियाँ प्रसन्न-वदन राष्ट्रीय गीत गाया करती हैं, तब भी वह तिरङ्गा झंडा लिए उदास-मुँह चुपचाप बैठी रहती है।

शिविर से जो अन्न मिलता है, उससे पेट की ज्वाला शान्त करके अपनी कोठरी में पड़े-पड़े उसने अनेक बार विचार किया कि इस लड़ाई में केवल गरीबों की ही हानि हुई; पैसेवाले अब भी उसी तरह सुख से दिन व्यतीत कर रहे हैं।

उसने कई बार नगर-कांग्रेस के दफ्तर में जाकर पूछा—स्वराज्य कब मिलेगा, और मिल जाने पर मुझे क्या मिलेगा?

उसके इस प्रश्न पर लोग हँस देते हैं!



प्रत्यावर्त्तन

१

भाईजी ! भाईजी !! आज-कल आप उदास क्यों रहते हैं ?

कमलनाथ अपनी ऊँची छत से, गंगा के उस पार की हरियाली पर, डूबते हुए सूर्य की सुनहली किरणों की शोभा देखने में तन्मय था। आँखें उधर लगी थीं और दिल अनमना होकर किसी भोली-भाली स्मृति के पीछे—गंगा के मुक्त पथ में विचरनेवाले पवन की तरह—दौड़ रहा था। पास की छत पर फिर कुछ साँय-साँय हुआ,

और फिर आवाज आई—भाईजी ! भाईजी !! पान की डिबिया फेंक दूँ ?

कमलनाथ पान का प्रेमी था। पान का नाम सुनकर उसकी समाधि भंग हुई। घूमकर देखा, मुँडेरे की जाली में दो सफेद नन्ही-सी आँखें चमक रही हैं। कमल ने व्यंग किया—लाली, तुझे मेरे पान की बड़ी चिन्ता है !

चतुर लाली ने समझा कि मैंने कोई अपराध किया। चट बोल उठी—नहीं भाईजी ! भाभी पूछती हैं।

'चुप'—सायँ' ' 'सायँ' ' 'और लाली की पीठ पर एक धमाका।

लाली सिसक-सिसककर रोने लगी। कमल ने पूछा—लाली, तू क्यों रोती है ? उसने डरते-डरते कहा—भाभी ने मारा है। कमल ने कहा—तुम्हारी मंगला-भाभी बड़ी निठुर हैं।

मंगला हँस रही थी, उसने धीरे से कहा—क्यों री लाली ! अब मेरी शिकायत करेगी ? अच्छा, देखूँगी तुझे गुड़िया कौन देता है !

भोली बालिका झट से बोल उठी—भाईजी देंगे।

मंगला ने कहा—अच्छा लाली, भाईजी से पूछ कि आज-कल रात को वह घूमने नहीं जाते ?

लाली ने कहा—मैं नहीं पूतूँगी, तुम पूत लो !

कमल सुन रहा था। वह चुपचाप मंगला की ओर देख रहा था। मङ्गला ने कहा—लाली ! पूछ। लाली ने पूछा—भाईदी, रात को गूमने नहीं दाते ?

कमल ने कहा—नहीं लाली, अब घूमने नहीं जाता। यह पैसेवालों का खेल है। यह सब कामता-भाई-जैसे धनी लोगों को ही शोभा देता है।

कहते-कहते वह चुप हो गया। एक दृश्य उसकी आँखों के सामने फिर गया। श्यामा का वह मधुर गान, वह मनमोहनी मुस्कान, प्रेम की बातें, उसकी एक-एक अदा, और भोली-भाली सूरत की स्मृति ने उसे व्याकुल कर दिया। फिर वह विचार-सागर में डूब गया।

अब लाली न बोलती थी। मंगला की लज्जा जाली की तरह कट गई थी। उसने स्वयं पूछा—क्यों ! आज-कल कुछ उधर से उदास हैं क्या ?

कमलनाथ का माथा सनसनन कर रहा था, हृदय में धड़कन कुछ बढ़-सी गई थी। न जाने क्यों, मंगला का मुँह देखने के लिए उसकी आँखें जाली तोड़ देने को व्याकुल हो पड़ीं।

मंगला ने फिर कहा—क्या भाई-साहब के साथ आज-कल जाना नहीं होता ?

लज्जित न करो भाभी ।

क्या नाम है उसका, श्यामा ? कैसी है ? होंगी बड़ी-बड़ी आँखें, कुछ साँवली-सी, हँसने से गालों में गढ़े पड़ते होंगे ! ताज्जुब तो यह है कि तुम दोनों रीझे हो !

कमल ने उकताकर कहा—आज क्या हो गया है तुम्हें भाभी ? मैं तो यों ही कभी-कभी भाई-साहब के कहने से चला जाता हूँ ।

तब अभी कच्चे चेले हो ! कभी-कभी अपने मन से भी जाया करो—

इसके बाद एक खिलखिलाहट सुनाई दी । कमल का दम घुटने लगा । वह फैलते हुए सन्ध्या के अंधकार में विलीन हो जाना चाहता था । अकस्मात् उसके पीछे 'हरिकेन' की रोशनी दिखलाई दी । वह कुछ बोलना चाहता था; किन्तु नौकर को ऊपर आते जान चुप हो गया—सीढ़ी की ओर लौट पड़ा । न जाने क्यों, मंगला के इस वार्त्तालाप को छिपा देने के लिए उसे बड़ी उत्कण्ठा हुई, जैसी आज तक कभी न हुई थी ।

मंगला अपनी छत पर से चली गई। कमल भी छत पर से हट गया।

रमुआ ने लालटेन रखते हुए कहा—बाबूजी! बड़े बाबूजी ने कहा है, जल्दी कपड़ा पहनकर आवें, हम तैयार हैं।

अभी थोड़ी देर पहले कमल ने सोचा था कि आज कामताप्रसाद के साथ श्यामा के यहाँ न जायँगे।

परन्तु श्यामा के यहाँ चलना है, इस आह्वान को सुनकर वह अपना धैर्य न सँभाल सका; चलने की तैयारी करने लग गया।

२

फूल-चँगेर में बहुत-से चैती गुलाब की पँखुरियाँ चुनकर रक्खी थीं, जिनमें बादले काटकर मिलाये गये थे। कामता ने दोनों मूठ में उन्हें भरकर श्यामा के ऊपर उड़ा दिया। वसंत की चाँदनी में चन्द्रमा की किरणों से चमकते हुए बादले श्यामा के मुख पर बिखर पड़े, और आबरवाँ की साड़ी पर गुलाब की पँखुरियाँ छींट का काम करने लगीं!

कामता ने कहा—वाह! आज तो बड़ी सुन्दर दीख रही हो श्यामा!

श्यामा ने कहा—मगर कमल बाबू से कम। क्यों कमल बाबू! ठीक कहती हूँ न?

कमल ने कहा—क्या सब खार मेरे ही ऊपर रहती है?

फिर कामताप्रसाद ने कहा—खैर! कोई गाना सुना दो।

ज़रा देर बाद श्यामा ने एक गजल गाना आरम्भ किया—

काबू में हो रहे हो तुम और ही किसीके।
कैसे कटेंगे ये दिन अब मेरी जिन्दगी के॥

बीच ही में कमल बोल उठा—वाह! कैसी अपने मतलब की कही! अब किस तरह काबू में करना चाहती हो?

श्यामा कुछ कहना ही चाहती थी कि कामता ने शराब का गिलास उसके मुँह से लगा दिया। कुछ देर में दोनों नशे में झूमने लगे। नशे की बढ़ाबढ़ी में कामता ने उसका चुम्बन किया।

कमल एकाएक उठ खड़ा हुआ। उसने कहा—मैं अब जाता हूँ, मेरी तबीयत कुछ खराब है।

श्यामा ने कहा—छोटे बाबू! क्या मुझे छोड़कर चले जाओगे?

कमल ने कहा—कामता-भाई तो हैं ही। अब तो पूर्ण रूप से काबू में हो गये हैं।

यह कहकर उठने लगा, तो कामता ने कहा—आज क्या है जो तुम इस तरह जा रहे हो ?

कमल ने कहा—आज मेरे सर में दर्द हो रहा है, मैं नहीं ठहर सकता। बड़ी बेचैनी है।

इतना कहते-कहते वह सीढ़ियों से नीचे उतर गया। अँधेरी गलियों से होता हुआ जल्दी-जल्दी अपने मकान पर पहुँचा, और सीधे ऊपर की छत पर गया, जहाँ रामू ने पलँग बिछा रक्खा था।

पलँग को जरा और मुँडेरे की तरफ खींचकर कमल ने अपना कुरता उतारा। देखा, मञ्जुला अपनी छत पर लेटी हुई लाली से बातें कर रही है।

कमल को देखकर मञ्जुला ने कहा—आज क्या है जो इतनी जल्दी चले आये ? क्या भाई-साहब को अकेला छोड़ आये ?

कमल ने कहा—मेरी तबीयत तो लगती नहीं थी। कामता-भाई की वजह से बैठा रहा, फिर बहाना करके चला आया।

कुछ प्रसाद नहीं मिला !

कमल ने नेवारी की माला उतारकर फेंक दी—प्रसाद तो नहीं है भाभी ! सूखे फूलों की अंजली है।

मङ्गला ने माला को कसकर अपने हृदय से लगा लिया। एक ठंढी साँस खींचकर कमल वहाँ से हट गया, आकर अपने बिस्तर पर लेट रहा।

बूटेदार साड़ी की तरह क्षितिज में तारे झिलमिला रहे थे।

२

कुछ दिन बीत गये। एक दिन मङ्गला की मजदूरिन ने आकर कहा—बाबूजी! आपको बहू ने बुलाया है।

कमल की आँखों के सामने उसकी कल्पना का संसार नाचने लगा। बड़ी प्रसन्नता से उसने कहा—चलो, मैं अभी आता हूँ।

कमल जब पहुँचा, तब मङ्गला 'क्रिरोशिया' की एक बेल बुन रही थी। उसने कहा—क्यों बुलाया है भाभी? कामता-भाई बाहर से कब आवेंगे? आज उन्हें गये तो चार दिन हो गये।

मंगला—एक चिट्ठी लिखानी थी, इसी लिए आपको इतना कष्ट दिया है।

कष्ट कौन-सा है—किसको लिखना है?

मङ्गला—इसी तरह, एक आदमी को।

एक आदमी को! क्या कामता-भाई को?

हाँ......नहीं......।

तब किसको ?

लिखो भी तो।

अच्छा, बोलो, किसको लिखूँ और क्या लिखूँ ?

मङ्गला—जिसको लोग बहुत चाहते हैं उसे क्या कहकर लिखते हैं ?

पुरुष अगर लिखे तो, प्राणप्रिये !—और स्त्री लिखे तो, प्राणनाथ !

हाँ......यही लिखो।

अच्छा, लिखा—प्राणनाथ ! और बोलो ?

लिखो कि—मैं तुम्हें इतना चाहती हूँ, और तुम्हें मेरा ध्यान तक नहीं रहता; तुम दूसरे के दिल का दर्द क्या जानोगे !

कमल चुपचाप आश्चर्य से मंगला की तरफ़ देख रहा था, और वह कहती ही रही—मैं तुम्हारे लिए दिन-रात व्याकुल रहती हूँ।

भावाविष्ट बसन्त के समान मंगला कहकर चुप हो गई। कमल ने पूछा—यह क्या लिखा रही हो भाभी ! कुछ समझ में नहीं आता।

आवेश में मंगला ने तो कह डाला, किन्तु लज्जा से उसका हृदय धँसा जाता था। वह सर नीचा किये बैठी थी।

कमल—पत्र लिख गया है। अब पता लिखाओ।

मंगला—नहीं! पता नहीं लिखाऊँगी।

तब पत्र लिखाने से फायदा! चिट्ठी तो जायगी नहीं, जब तक पता न लिखा रहेगा।

सब पता तुम्हीं जान लोगे?

अच्छा, न बताओ

मंगला ने कमल की तरफ़ देखते हुए कहा—मेरा काम हो गया—जिसे पत्र लिखाया था, उसने पढ़ लिया।

कमल—यह क्या? मेरी समझ में कुछ नहीं आता!

खुद समझ लोगे! और क्या साफ़-साफ़ कहूँ? अच्छा, लिख दो श्रीमती श्यामा देवी।

किसीकी दिल्लगी उड़ाने में तुमसे बढ़कर चतुर मैंने नहीं पाया।

इसमें दिल्लगी क्या है? जब तुम समझते ही नहीं, तो और क्या कहूँ। खैर, श्यामा का नाम न लिखिये, अपना नाम लिख लीजिये।

कमल आश्चर्य से चुपचाप मंगला की तरफ़ देख रहा

था। उसे मंगला के साहस पर बड़ा आश्चर्य हो रहा था। उसने कहा—इस पत्र के लिए मैं आपको हृदय से धन्य-वाद देता हूँ।

मङ्गला ने निगाह नीची कर ली। कमल काँप रहा था, मानों उसने कोई घोर पाप किया हो। उसने कहा—देखो, घड़ी में बारह बज गये। अभी तक स्नान भी नहीं किया है, अब जाता हूँ।

मङ्गला—अच्छा, अब कब दर्शन मिलेगा?

कमल—जब याद करोगी भाभी!

मङ्गला—'भाभी' कहकर अब क्यों लजाते हो?

कमल—तो क्या कहूँ?

मङ्गला—मेरा नाम।

कमल—अच्छा, वही सही।

४

कामता—

कामताप्रसाद अपना देश छोड़कर व्यापार करने के लिये आये थे। उनको व्यापार करते हुए तीन वर्ष हो गये। इन्हीं तीन वर्षों में उन्होंने अपना बहुत-सा धन नष्ट कर दिया था। उस समय उनके चार साथी थे, किन्तु अब

कोई उनके पास न आता। धन सब उड़ चुका था। कमल-नाथ से उनकी बड़ी मित्रता हो गई थी।

अपने कमरे में बैठे सोच रहे थे—

क्या श्यामा अब वही है ? अभी उस दिन श्यामा ने कहा था, आप मेरा कुछ खयाल नहीं करते, मुझे रुपयों की आवश्यकता है, और आप तीन महीने से कुछ नहीं देते; मेरा काम कैसे चलेगा ?

मैं क्या करता, रुपये तो हैं ही नहीं। और भी देखता हूँ कि अब उस 'ओवर-ऐक्टिंग' में सर्वस्व अर्पण करने की भूल होने लगी है। कभी-कभी मैं घंटों ऊपर के कमरे में बैठाल दिया जाता हूँ—और जब वह लौटकर आती है, तो उसके मुख पर फीकी हँसी तिरस्कार-सी चलती है।

मङ्गला—

मङ्गला—कामता की स्त्री है। पति के व्यवहार से दुःखी रहती है। आपस में प्रेम न था, इसी लिए अनबन रहा करती। लाली उसके साथ रहती। लाली कामता के चचा की लड़की है, इसी लिए कामता को 'भाईजी' कहती है। कामता के मित्र होने के कारण कमल को भी वह भाई-

जी कहती है। अभी उसकी अवस्था तीन वर्ष से कुछ अधिक है, फिर भी वह बहुत कार्य करती है—उसके बिना मंगला का दिन कष्ट से कटता था।

कमल—

कमल का मकान कामता के मकान के पास ही था। वह मंगला को चाहता था; किन्तु प्रकट नहीं कर सकता था—उसका प्रेम छिपा हुआ था। वह एक दूसरी स्त्री से प्रेम करना अन्याय समझता था, किन्तु बहुत कोशिश करने पर भी अपनेको सम्हाल न सकता था। प्रेम की लहरें उसके हृदय-सागर पर लहरा रही थीं। वह दिन-रात मंगला का ध्यान किया करता था।

श्यामा और कामता की पतंग खिंचकर लड़ने लगी। कमल और मंगला परेते उलटकर पतंग ढील दे रहे थे।

५

वर्षा के सूर्य की किरणें बादलों को फाड़कर फैल रही थीं। आकाश में इन्द्र-धनुष निकला था। प्रकृति हँस रही थी। अभी तक, वृक्षों और छोटे-छोटे पौधों के पत्तों

पर, वर्षा की बूँदें हीरे के समान चमक रही थीं। चारों तरफ घनी हरियाली दिखलाई देती थी। अब कामता 'श्यामा' के यहाँ नहीं जाते थे, इसी लिए उदास रहा करते थे। उनकी आत्मा बार-बार कहती—तुमने बुरा किया है, ये वेश्याएँ भला किसीकी होती हैं?

अकस्मात् कामता उठ खड़े हुए। आज वह उम्र भाव से श्यामा के घर की ओर चले। श्यामा बैठी थी; उसने कामता को देखते ही मुँह फेर लिया। कामता ने पूछा—क्यों श्यामा, क्या अब मुझसे न बोलोगी?

झूठे आदमियों से बोलने से क्या मतलब?

क्या यही तुम्हारा अन्तिम उत्तर है?

हाँ।

कामता सर थामकर बैठ गये। बड़ी देर तक बैठे रहे। विश्व-ब्रह्मांड उनके सामने घूमने लगा। वह अचेत बैठे रहे। जब श्यामा के नये चाहनेवाले आये, सारंगी पर सुर मिलने लगा, तब भी उनको चेत नहीं था। तबले की थाप ने उनके सर पर धौल-सी जमा दी। वह उन्मत्त भाव से उठे और घर की ओर चल पड़े।

× × × ×

आज बड़ी सुहावनी रात है।

तुम्हारे इस मिलन के लिए ही विधाता ने इसे मनोहर बना डाला।

प्राणाधिके! हृदय की जलन मिटा दो।

अकस्मात् पीछे से किसीने कमल की गर्दन पकड़-कर कर्कश कंठ से कहा—नीच! नरक की ज्वाला तुझे जलावेगी। विश्वासघाती!!

कामता के हाथों में छुरा चमक उठा। झपटकर मंगला ने कहा—निर्दोष की हत्या न करो—और छुरेवाला हाथ पकड़ लिया। उन्मत्त कामता ने छुरा हाथ से गिरा दिया। वह बैठ गया। तीनों बड़ी देर तक चुप थे। फिर कमल उठा और चला गया। कहाँ गया, पता नहीं।

६

प्रकृति सुनसान हो जाती, एक शब्द भी कहीं न सुन पड़ता। चारों तरफ सायँ-सायँ होता। उस समय वंशी-वाला अपनी वंशी लेकर बैठ जाता। उसकी ध्वनि में अपूर्व शक्ति थी, उसके बजाने में निपुणता थी। एक बार लोग उतावले होकर उसे सुनते। यही वंशीवाले की वंशी में विशेषता थी! उसकी वंशी कभी-कभी सुन पड़ती थी,

इसी लिए लोग उत्सुकता से सुनते। उसके बजाने पर सबको आश्चर्य होता।

बहुत-से लोग उसे पागल समझकर बात भी न करते थे। वंशीवाले को देखकर तुरन्त यह ज्ञात हो जाता था कि उसे अपने सौन्दर्य का मोह नहीं है।

प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन में किसी-न-किसीसे अवश्य प्रेम करता है। उसी प्रेम के कारण वह बदनाम होता है, निराश होता है, अपना जीवन नष्ट कर देता है, उसका प्रणयपात्र उसे भूल जाता है। किन्तु फिर भी वह प्रेम की उपासना करता है।

वंशीवाला भी किसीको चाहता था। संसार से उसे निराशा होती। किन्तु वह उस प्रेम के भाव को अपने अन्तर से न हटा सकता।

× × ×

उस दिन नवरात्रि का प्रथम दिवस था। रजनी ने चौथे पहर में प्रवेश किया था। वंशीवाला गंगा-तट पर बैठा वंशी बजा रहा था। कब से बजा रहा था, यह मालूम नहीं। कभी वंशी बजाता, कभी उसे बगल में रखकर चुपचाप गंगा की तरफ देखता और किसी स्वर्गीय संगीत

को सुनता। गंगा की कलकल-ध्वनि उसके कानों में गूँज रही थी। फिर वह कुछ गुनगुनाने लगता, कुछ विचार करता और फिर वंशी बजाने लगता। अभी उषा की लाली पूर्व-दिशा में कुछ-कुछ छा रही थी। पक्षी वृक्षों पर कलरव कर रहे थे। उसी समय घाट पर दो स्त्रियाँ स्नान करने को आईं। वंशीवाला वंशी बजा रहा था। स्नान करने के पश्चात् उसमें से एक घाट के तख्ते पर बैठ गई। उसकी सखी ने कहा—बैठी क्यों हो ? चलो...न...।

बड़ी सुंदर वंशी बज रही है !

देखो, कहीं वंशी सुनकर पागल न हो जाना।

चुप......।

वंशीवाले के कानों में परिचित स्वर सुन पड़ा। वह वंशी रखकर चुपचाप देखने लगा। वायु के मन्द-मन्द झोकों से वंशीवाले के घुँघराले बाल हिल रहे थे। सहसा वह खड़ा होकर आश्चर्य से देखने लगा। उसका हृदय धक-धक कर रहा था। मन्दिर के घंटों की ध्वनि सुन पड़ती थी। उसने पह-चान लिया, और फिर उदास हो गया। वह परिचित के समान उसकी तरफ़ देखने लगा, और वह स्त्री भी आश्चर्य से देखती हुई उसके पास आ गई। बोली—अरे ! तुम यहाँ कहाँ ?

वंशीवाला चुपचाप देख रहा था।

वंशी कब से बजाने लगे कमल-बाबू ?

जब से तुमसे अलग हुआ भाभी !

एक दिन मेरे यहाँ आकर वंशी नहीं बजाओगे ? आज-कल दिखाई नहीं देते, कहाँ रहते हो ?

हृदय का वास्तविक रूप कोई समझता नहीं, संसार हँसता है।—कहते-कहते कमल चुप हो गया।

मंगला उसकी तरफ़ देख रही थी। फिर कमल ने कहा—तुम्हारे ही कारण आज मैं वंशी बजा लेता हूँ— किन्तु अब वह भी इस जीवन में न बजा सकूँगा।

इतना कहते हुए कमल ने अपनी वंशी जाह्नवी को समर्पित कर दी। वंशी गंगा की लहरों के साथ बहती हुई चली जा रही थी, और वह यहाँ से तिरछी तरफ़ दौड़ता हुआ चला जा रहा था। मंगला व्याकुलता से उसकी तरफ देख रही थी। देखते-देखते वह उसकी आँखों से, गिरते हुए तारे की तरह, ओझल हो गया।

बहुत दिन बीत गये—मगर कमल का फिर पता न लगा।



रूखा स्नेह

प्रभात का समय था। पूर्व दिशा में कुछ-कुछ लाली छा रही थी। रसीले मलय-पवन के आलिंगन से जूही की कलियाँ चिटक रही थीं; मीठी-मीठी सुगन्ध चारों तरफ फैल रही थी। पक्षियों के कोलाहल से उपवन गूँज उठा था।

मैं बहुत देर से उस उपवन में, पास की एक पत्थर की चट्टान पर, बैठा हुआ दिनकर की लीला देख रहा था। मधुप फूलों का रस-पान कर रहा था। सहसा एक तितली सेवती की डाल से उड़कर जूही की झाड़ी की तरफ गई। मेरी दृष्टि उसीके साथ घूमी। देखा—एक नवयुवती

पुष्पों को एकत्र कर रही है। उसकी सुन्दरता फूलों की अपेक्षा अधिक मनोरम थी। वह उम्र में लगभग १९ वर्ष की जान पड़ती थी। भ्रमर के समान उसके काले केश बड़ी निपुणता से बाँधे गये थे। गौर वर्ण था। मृग के समान नयन थे। मुख पर एक अद्भुत कान्ति थी। शरीर पर केवल एक सादी धोती थी। आभूषण एक भी न थे। पैर में एक मखमली चट्टी थी। एक हाथ में थाली लिये हुए वह फूल तोड़ रही थी।

मेरे नेत्र मुग्ध हो गये। मैं चकित होकर उसकी तरफ देखने लगा। मुझे यहाँ कई मास हो गये थे; किन्तु उस नवयुवती को देखने का मेरा यह प्रथम अवसर था।

मैं एक देवी के समान उसकी आराधना करने लगा। नित्य प्रातःकाल मैं उस स्थान पर आकर बैठ जाता था, और तृषित नयनों से उसकी तरफ़ देखता था।

एक दिन, बहुत साहस करके मैं उस स्थान से उठा, और जूही की झाड़ी के समीप जाकर उस युवती से कहा —क्या इस झाड़ी से कुछ पुष्प मैं ले सकता हूँ ?

एकाएक मुझे देखकर वह कुछ डर गई। उसके नेत्र चढ़ गये। उसने एक तीखी दृष्टि से मेरी तरफ देखते हुए

कहा—यहाँ किसीके आने की आज्ञा नहीं है। तुम यहाँ क्यों आये ? इस झाड़ी में से पुष्प नहीं मिल सकता।

मैं निराश होकर उलटे पाँव लौट रहा था। इतने में एक आवाज आई—मालती, यहाँ आओ।

उस युवती ने कहा—क्या चाय तैयार हो गई ? अच्छा, अभी आती हूँ।

मुझे यह ज्ञात हो गया कि उसका नाम 'मालती' है।

उस उपवन में एक अतीव सुन्दर और बहुत बड़ा मकान था। वह गर्ल्स-स्कूल का छात्रावास था। उसमें बहुत-सी लड़कियाँ रहती थीं। 'मालती' भी उसीमें रहती थी।

मालती एक धनी की कन्या है। उसकी हर-एक चीज से अमीरी टपकती थी। उसकी प्रत्येक बात में घमंड भरा था।

मैं चट्टान पर लौट आया और विचार करने लगा—देखो, कितनी सुन्दर युवती है! एक बार उसे देखकर ही कोई संसार का सब सुख त्यागकर उसे अपना जीवन समर्पित कर सकता है। किन्तु; हाय! उसका हृदय पत्थर है!

२

मेरे घर की अवस्था इतनी अच्छी न थी कि उससे मेरी पढ़ाई का खर्च निकलता! मुझे स्वयं धन उपार्जित कर अपना काम चलाना पड़ता था। कुछ तो कालेज से मुझे छात्र-वृत्ति मिलती थी, और कुछ मुझे लड़कों को पढ़ाकर मिल जाता था। इसी प्रकार अध्ययन करते-करते मैं बी० ए० में पहुँचा, और यही मेरी अन्तिम परीक्षा थी। कारण, धन के अभाव से आगे और अध्ययन करना कठिन था।

मैं अपना निर्वाह केवल दो खद्दर के कुरतों और दो धोतियों से कर लेता था। मुझे स्वयं अपने हाथ से भोजन बनाना पड़ता था। सब प्रकार की चिन्ताओं ने तो मुझे घेर ही रक्खा था; किन्तु उस दिन से मुझे मालती की एक नवीन चिन्ता लग गई। मैं जानता था कि मालती स्वप्न में भी मेरी तरफ़ न देखेगी; किन्तु फिर भी मैं उसके लिये आहें भरता, अश्रुपात करता और कभी-कभी व्याकुल हो जाता था।

नित्यप्रति मैं मालती के रूप-रस का पान करने लगा। अब कभी-कभी मालती भी मेरी तरफ़ दृष्टि फेर देती थी;

किन्तु वह दृष्टि प्रेम की नहीं होती थी—उसमें रूखापन भरा रहता था; पर मैं इतने ही को अपना सौभाग्य समझता था।

अब मेरा पढ़ने में तनिक भी मन न लगता था। पुस्तक खोलकर मैं पढ़ता, तो उसके प्रत्येक अक्षर में मुझे मालती की सूरत दिखाई पड़ती थी। इसी तरह मालती के ध्यान में मेरे दिन कटने लगे।

एक दिन गर्ल्स-कालेज के वृद्ध चपरासी से मैंने मालती के सम्बन्ध में कुछ बातचीत की। उससे मालूम हुआ कि मालती बी० ए० में पढ़ती है। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। वृद्ध ने कहा—कालेज में मालतीदेवी का बड़ा मान है। वह एक धनी की कन्या हैं। सब अध्यापिकाएँ उनसे प्रेम करती हैं।

उस दिन से मेरा प्रेम और बढ़ने लगा!

परीक्षा का समय आ गया था। मेरा कालेज जाना भी एक तरह से छूट गया था। कभी जाता, कभी न जाता। प्रोफेसर लोग समझते कि शायद बीमार रहा करता है; क्योंकि मैं बहुत दुर्बल हो गया था।

दस बज चुका था। मैंने उन्मत्त की भाँति परीक्षा-भवन में प्रवेश किया। देखा, सामने मालती बैठी थी। मेरी उसकी चार आँखें हुईं। वह मेरी तरफ़ देखकर विचार करने लगी। मैं अपने स्थान पर जाकर बैठ गया।

परीक्षा का पर्चा बँटा। मालती ने उसे बड़ी प्रसन्नता के साथ लिया। मुझे भी मिला। मैंने एक बार उस 'पेपर' को बड़ी निराशा से देखा। मैं पहले ही से हताश था कि कुछ भी न लिख सकूँगा। मेरी दृष्टि मालती की तरफ़ थी। वह भी आज बार-बार मेरी तरफ़ देखती थी। मैंने एकाध प्रश्न का उत्तर लिखा; बाकी यों ही छोड़ दिया।

परीक्षा का समय समाप्त हो गया। आखिरी घंटा बजा। मैं उठा। मालती भी उठी। सामने से मेरे एक अध्यापक ने पूछा—क्यों राजेन्द्र, कैसा किया?

मैंने कहा—कुछ भी न लिखा, अबके मैं निश्चय सफलता न प्राप्त कर सकूँगा।

फिर मैं मालती की ओर देखता रहा!

परीक्षा अब पूर्ण रूप से समाप्त हो चुकी थी। अब केवल परीक्षा-फल की प्रतीक्षा थी।

अब मैंने मालती में एक नई बात देखी—वह स्वतन्त्र हो गई। उसके यहाँ उसके प्रोफेसर अभयकुमार आया करते थे। मालती बड़े प्रेम से उनसे हँस-हँसकर बात करती थी। चलते समय उनसे हाथ मिलाती थी। प्रोफेसर साहब प्रतिदिन उसके यहाँ आने लगे।

इसी तरह एक मास बीत गया।

३

वृक्षों की धूल झाड़कर शीतल समीर का एक झोंका चला गया—उन्हें धो-पोंछकर काली घटा चली गई। सन्ध्या में निकलनेवाले पहले तारे, दो-चार, आकाश के अञ्चल में फूल के समान दिखलाने लगे थे। मैं टहल रहा था कि देखा—मालती आ रही है।

मैं खड़ा हो गया। वह अब मुझे एक परिचित की भाँति देखने लगी। उसने मुझे नमस्कार किया। मैंने भी उसे नमस्कार किया। मेरे जीवन में मुझे आज-जैसी प्रसन्नता कभी न हुई होगी। उसके नेत्रों में क्षण-भर के लिये मेरे प्रति अपार प्रेम अपनी झलक दिखलाकर लुप्त हो जाता। मेरी समझ में यह लीला न आती; मैं चुपचाप बैठकर यही विचार करता।

मालती वहाँ ठहर गई थी। उसने पूछा—कहिये, बी० ए० पास करने के बाद क्या निश्चय किया? क्या एम० ए० पढ़ियेगा?

मेरा हृदय उमड़ रहा था! इच्छा होती थी कि आज मालती से अपनी दुःखमय कहानी कह सुनाऊँ; किन्तु दूसरी भावना कहती—अभी समय नहीं आया, ठहरो। फिर भी मैंने उससे कहा—मेरा जीवन बड़ा दुःखमय है। अब तक किसी प्रकार अपने जीवन का निर्वाह करते हुए अध्ययन करता रहा, अब आगे नहीं पढ़ूँगा। परन्तु अभी तक यह नहीं स्थिर कर सका हूँ कि आगे किस प्रकार अपना जीवन काटूँगा।

मालती ने मेरे प्रति सहानुभूति प्रकट की। फिर उसने कुछ न पूछा। चली गई।

कई दिन बीत गये।

उस दिन अखबार में बी० ए० का परीक्षा-फल निकला। मैं बहुत व्याकुल होकर अपना नाम ढूँढ़ने लगा—शायद मैं उत्तीर्ण होऊँ। मालती का नाम मुझे द्वितीय श्रेणी में मिला। मेरा नाम ही न था। समझ गया कि मैं फ़ेल हो गया।

मैं बहुत चिन्तित हो गया। विचारने लगा कि अब क्या करूँ। अब मेरे लिए कोई मार्ग ही न था। मेरे दुःख के काले बादल आकाश में मँडराने लगे। मैंने निश्चय किया कि अब नौकरी करूँगा!

किन्तु आज-कल के समय में नौकरी मिलना सहज नहीं है। मैं नित्य समाचार-पत्र देखने लगा—शायद कहीं कोई नौकरी का विज्ञापन हो। एक दिन मैंने देखा—उसने लिखा था—आवश्यकता है गर्ल्स-स्कूल के लिए क्लर्क की; वेतन योग्यतानुसार।

मैंने प्रधानाध्यापिका के पास अपना प्रार्थना-पत्र भेज दिया। एक सप्ताह के पश्चात् मुझे एक उत्तर मिला—

आप हेड-क्लर्क के स्थान पर नियुक्त किये गये। वेतन ६०) है। इसी सप्ताह से आपको काम करना पड़ेगा।

—सुभद्रा बाई; मालती देवी

मुझे आश्चर्य हुआ! एक बार दिल में सनसनी फैल गई। मालती का नाम मस्तिष्क में घूमने लगा। क्या वही 'मालती' है?

परन्तु मुझे अपनी अवस्था गुदगुदा रही थी। मैं अपनी सफलता पर प्रसन्न हो रहा था। मुझे विश्वास हो

चला कि यह केवल मालती की कृपा का फल है। मैं मुग्ध होकर मन-ही-मन उसकी प्रशंसा करने लगा। पर क्या यह वही 'मालती' है ?

मुझे काम शुरू करने पर मालूम हुआ कि सचमुच यही 'मालती' है। वह सहकारिणी अध्यापिका है !

मेरे काम से सब प्रसन्न थे। मुझे काम करते दो मास बीत गये। मालती की मुझपर अब विशेष कृपा रहती थी।

किन्तु हाय ! मुझे मालती की स्वतंत्र चाल-ढाल से बड़ी जलन होती थी—अब उसने अपने लिए अलग बँगला ले लिया था—स्वतंत्रतापूर्वक उसमें रहती थी। अब वह स्वयं पुष्प नहीं तोड़ती; माली उसके लिए गुलदस्ता बनाता है ! उसका कमरा अँगरेजी फैशन से सजा हुआ है। नौकर-चाकर सभी हैं। एक तो वह धनी की कन्या थी ही, दूसरे अब उसे २००) महीना स्कूल से मिलता है। वह बड़े ठाट-बाट से रहती है।

प्रोफेसर अभयकुमार दर्शनशास्त्र के अध्यापक थे। वह नित्य-प्रति मालती के यहाँ आते। दिन-पर-दिन मालती से उनकी घनिष्ठता बढ़ती जाती। मैं जब कभी सायंकाल मालती

के बँगले की तरफ़ से जाता, तो देखता कि प्रोफेसर साहब बैठे हैं। यही मेरे लिए बड़ी जलन की बात थी। मेरी आँखों में खून चढ़ जाता था। मैं यह बरदाश्त नहीं कर सकता था। इससे मेरे हृदय पर एक ऐसा आघात हुआ कि मेरे शरीर की हालत बिगड़ती गई। मैं दिन-रात चिन्तित रहने लगा।

मैं कभी विचार करता—क्या इस संसार में केवल रुपये का ही सब खेल है! इसीसे मान है, इसीसे प्रतिष्ठा है। संसार के सब सुख इसीके आश्रय में पनपते हैं। और, क्या इसीसे प्रेम भी होता है? जिसे देखो, धन के लिए पागल रहता है! धन्य ईश्वर! तेरी लीला समझ में नहीं आती।

मेरे पास धनोपार्जन का और कोई साधन न था। केवल नौकरी करता और दो-चार सूखी रोटियाँ खाकर दिन काटता। मुझे अपने जीवन से घृणा होने लगी। मैंने फिर एक बार निश्चय किया कि अब घर पर खूब अध्ययन करके पुनः बी० ए० की परीक्षा दूँगा।

आफिस का सब कार्य समाप्त करने के पश्चात् मुझे जितना समय मिलता, उसे मैं पठन-पाठन ही में लगा देने लगा।

एक दिन मैं दफ़्तर में बैठा कुछ लिख रहा था। उसी समय मालतीदेवी किसी काम से वहाँ आईं! बोलीं—आज-कल तो आप बड़े कार्य-व्यस्त रहते हैं।

मैंने रूखेपन से कहा—हाँ।

उन्होंने फिर कहा—अबकी आप घर पर अध्ययन करके परीक्षा क्यों नहीं दे देते?

मैंने कहा—कोशिश कर रहा हूँ।

मालती मेरी तरफ़ बहुत देर तक देखती रही। मैंने मस्तक नीचा कर लिया, और अपने काम में लग गया। बीच-बीच में उसकी तरफ़ देखता भी जाता था। बहुत देर तक बेतार के तार की तरह हम दोनों में दिल की बातें होती रहीं। फिर उसने नमस्कार किया। वह चली गई।

कभी-कभी मुझे मालती पर क्रोध आ जाता कि हाय! मैं तो इसके लिए अपनी जान तक दे सकता हूँ और यह मेरे प्रेम को कौड़ियों के मोल भी नहीं पूछती।

क्या संसार में धनी ही प्रेम करने का अधिकारी है—गरीब नहीं? क्या निर्धनों के पास हृदय नहीं होता? प्रेम का भिक्षुक भ्रमर अकिंचन है, काला होने की वजह से बदसूरत है; पर क्या कलिका उसके प्रेम को नहीं अप-

नाती ? अवश्य अपनाती है। फिर, मालती ही मेरी ओर से रूखी क्यों रहती है ?

प्रोफेसर साहब की तरफ़ जब मेरा ध्यान जाता, तो मुझे विश्वास हो जाता कि मालती मुझे नहीं चाहती है।

मैं सोचने लगा—प्रोफेसर साहब तो सपत्नीक हैं। उनके एक छोटा-सा लड़का भी है। फिर वह मालती से क्यों इतना अनुराग बढ़ा रहे हैं ? उनका और मालती का प्रेम होना असम्भव है।

प्रोफेसर साहब और मालती की बदनामी पूर्ण रूप से हो गई। जिसे देखो, वही उन दोनों के सम्बन्ध में बात-चीत करता—यहाँ तक कि वह बुड्ढा चपरासी भी प्रोफेसर साहब की निन्दा करता। गर्ल्स-स्कूल की सब अध्यापिकाएँ और कालेज के प्रायः सभी लड़के और प्रोफेसर इस बात को जान गये।

मेरे हृदय में बड़ा कौतूहल हुआ। एक दिन दफ़्तर के कुछ कागजात लेकर मैं मालती के बँगले पर गया। नौकर से कुछ देर तक बातचीत करने के बाद मैंने पूछा—क्यों जी, प्रोफेसर साहब तुम्हारी मालकिन से क्या बातें करते हैं ?

उसने कहा—बाबूजी, उनकी बातें मेरी समझ में कुछ भी नहीं आतीं। रोज कई घंटे तक न जाने क्या गिटपिट करते हैं।

उस समय गुलदस्ते से सजी हुई मेज के पास बैठकर मालती और प्रोफेसर साहब बातें करते थे। मैं एक आड़ में खड़े होकर उनकी बातें गौर से सुनने लगा। प्रोफेसर साहब धीरे-धीरे कह रहे थे—देखो, संसार में प्रेम सबसे बड़ा सुख है। जो वास्तविक प्रेम को जान जाता है, वह ईश्वर को पहचान जाता है। प्रेम अमर है, प्रेम ईश्वर है, प्रेम स्वर्ग है। प्रेम सब कुछ है।.........

इतना वह कह ही रहे थे कि मालती ने पीछे की तरफ घूमकर मुझे एकाएक आड़ में छिपे हुए देख लिया। मैं वहाँ से चुपचाप चलता हुआ।

अब मालती का मेरा जब सामना होता, तो वह आँख बचाकर चल देती। मुझे शक हो गया कि नौकर से उसने पूछा और उसने सब बातें कह दी हैं।

इधर प्रोफेसर साहब का निकलना मुश्किल हो गया। जो उन्हें देखता, वही उनपर उँगली उठाता। मालती से उन्होंने अब मिलना तक छोड़ दिया। उनकी बदली

हो गईं। यह बम्बई के एक कालेज में नियुक्त होकर चले गये।

मालती अब मुझसे साफ-साफ घृणा करने लगी। मुझसे बात करना तो दूर, मेरी तरफ़ देखती तक नहीं। उसे विश्वास हो गया कि मैं उसकी बदनामी के षड्यन्त्र में प्रधान कार्य करता था; किन्तु वास्तव में ऐसा न था। मैंने आज तक किसीसे इस विषय पर बात नहीं की।

मैं दिन-रात उदास रहने लगा कि उसके इस विचार को किस प्रकार दूर करूँ। यदि उसने कहीं प्रधानाध्यापिका से मेरी कुछ भी निन्दा कर दी, तो नौकरी चली जायगी।

मैं बड़ा विकल हुआ। किस तरह मैं मालती को सब बातें सुनाता—मेरे हृदय पर एक बड़ा-सा बोझ पड़ गया। मुझसे अब दफ़्तर का भी कुछ काम नहीं होता। शरीर प्रायः अस्वस्थ रहता।

एक दिन, मुझे जोरों से बुखार आ गया। मैं कई दिनों से अपने बिस्तर पर कराहता था। नौकरी छूटने के समाचार आफिस में विश्वस्त रूप से प्रकट किये जाने लगे।

एकाएक मुझे मालती का ध्यान आया। मैं ज्वर के

आवेश में कहने लगा—हाय मालती ! एक बार तू मुझे देख ले। मैंने तेरे लिये अपना जीवन मिट्टी में मिला दिया ! कितनी रातें मैंने आहें भरकर, आकाश के तारे गिनकर, आँसू बहाकर तेरे लिये बिताई हैं; किन्तु तूने तनिक भी मेरे प्रेम पर ध्यान नहीं दिया। तूने मुझे कुछ-का-कुछ ही समझ लिया। हाय, मैं किस तरह तुझे अपने हृदय की व्यथा सुनाऊँ ! मालती ! मालती ! एक बार तेरे लिये मैं अपने इस जीवन का अन्त कर सकता हूँ…………। हाय मैं क्या करूँ !

एक बार मेरे कमरे का द्वार खुला। मुझे बड़ा जाड़ा लगा। मैं कम्बल से मुँह ढाँककर बेहोशी में कहने लगा—मालती ! तूने मेरा अविश्वास किया, मुझसे घृणा की ! क्या मेरे पास हृदय नहीं था ? तूने मेरे हृदय को ठुकरा दिया।

इतना मैं कह ही रहा था कि किसीने मेरे मस्तक पर हाथ रक्खा। मैंने मुँह पर से कम्बल हटाकर देखा, यह क्या ! मालती ? मालती ! तुम यहाँ कैसे ?

वह चुपचाप खड़ी एकटक करुण दृष्टि से मेरी तरफ देखती थी। उसकी आँखों में दया उमड़ रही थी। मेरी

आँखें ज्वर की तीव्र वेदना से लाल थीं, स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ता था। मुझे उसकी उपस्थिति भ्रान्ति-सी मालूम पड़ने लगी। मैंने अनुभव किया कि कोई शीतल हाथ मेरे मस्तक पर यूडी-क्लोन का काम कर रहा है।

मैं कुछ स्वस्थ होकर देखने लगा—वह सचमुच मेरे सिरहाने बैठी थी; धीरे-धीरे कह रही थी—क्षमा, क्षमा करो राजेन्द्र, मैं अपने अभिमान में तुम्हें पहिचान न सकी। मैंने अविश्वास किया। मैं अपनी असली आकांक्षा को दवाये रही। पर तुम मेरे अज्ञात आराध्य देवता थे। मैं प्रेम करती थी; पर पहचानती न थी। मेरा हृदय मुझे धोखा दे रहा था।

मैं अवाक् होकर उसकी बातें सुन रहा था। वह फिर कहने लगी—मैंने तुम्हें बड़ा कष्ट दिया। क्या तुम मुझे क्षमा करोगे ?

मैंने कहा—मालती ! प्यारी मालती ! यह आज क्या मैं स्वप्न देख रहा हूँ ? तुम मुझे चाहती थी ! हैं !

उसने कुछ उत्तर न दिया। उसके नेत्रों से अश्रुपात हो रहा था। यह ज्ञात होता था, मानों वह अपने विगत कार्यों पर पश्चात्ताप कर रही है।

तब से दिन-रात वह मेरी सेवा-शुश्रूषा करने लगी। वह मेरी हो गई, मैं उसका। ईश्वर की दया से मैं जल्द नीरोग हो गया! तब मैंने उसकी मदद से बी० ए० की परीक्षा दे डाली।

५

कई दिन बीत गये। एक दिन हँसती हुई मालती मेरे पास आई, और एक समाचार-पत्र मेरे हाथ में देते हुए कहा—लीजिये न, आप फर्स्ट डिवीजन में बी० ए० पास हो गये!

मुझे विश्वास नहीं हुआ। गौर से जब मैंने अखबार देखा, तो बात सच निकली!

* * *

मैंने गर्ल्स-स्कूल की क्लर्की छोड़ दी। एक राज्य में मुझे प्राइवेट-सेक्रेटरी का स्थान मिल गया। वहाँ मालती के साथ मेरे दिन सुख से बीतने लगे।

* * *

बहुत दिनों के बाद मैं एक दिन अपने सेक्रेटरियट की छत पर बैठा था। पहाड़ी पर चाँदनी मचल रही थी। चमेली की माला लेकर मालती के जूड़े में लगाते हुए मैंने

कहा—प्रिये, क्या सचमुच तुम मुझसे पहले भी प्रेम करती थीं ?

मालती ने मुस्कुराकर कहा—क्या अब भी सन्देह है ?

मैंने कहा—प्रिये ! इतना रूखा स्नेह ?



३०२

१

दफा ३०२, खून का मुकदमा था ! नगर-भर में इस हत्या की चर्चा थी। अभियुक्त, हथकड़ी-बेड़ी से लदा हुआ, कोर्ट के द्वार पर, लाल-पगड़ी के शासन में, खड़ा था।

शान्तिप्रकाश ने चौंककर देखा—उसके नाम की ही पुकार हो रही थी। सिपाही लोग उसे धक्का देते हुए भीतर ले गये। वह अजायब-घर के एक जन्तु की तरह देखा जाने लगा।

दो दिन कारावास में कटे थे, आज मुद्दालेह का

बयान था। कठघरे में खड़ा अभियुक्त शान्तिप्रकाश कितना भयानक हो गया था—देखने लायक दृश्य था! उसकी सरस आँखें कितनी गम्भीर हो गई थीं! आँखों में एक डरावना तेज था! निर्भीकता से उसने जज को अपना लिखित बयान दिया, जो इस तरह था—

मैं दरिद्रता की गोद में पला हूँ। सुख किसे कहते हैं, मैं नहीं जानता। मेरी माता का देहान्त, जब मैं पाँच वर्ष का था तभी, हो गया था। मेरे पिता नौकरी करते और मैं उन्हीं के साथ रहता था। पिता को छोड़ इस संसार में मेरा कोई अपना न था। सब अपने दिन पूरे करके चले गये थे। पिताजी के जीवन का एकमात्र उद्देश्य था कि मैं पढ़-लिखकर होनहार बनूँ, मेरा भविष्य उज्ज्वल हो। उनके वेतन में से आधे से अधिक केवल मेरे पठन-पाठन में व्यय होता था। वृद्धावस्था में भी घोर परिश्रम करके २०) रुपये मासिक से अधिक वे पा ही न सके। मेरे सुख की कल्पना करके उन्होंने अपने सुख को मिट्टी में मिला दिया था।

इसी तरह कई वर्ष व्यतीत हो गये। मैं कड़े परिश्रम

से अध्ययन करता रहा। एंट्रेंस पास हो गया था। उसी साल, न जाने कैसी व्यवस्था करके, पिताजी ने मेरा विवाह कर दिया था। अब, भोजन हम लोगों को अपने हाथ से न बनाना पड़ता था। किन्तु विवाह होने पर झंझट और भी बढ़ गई !! २०) मासिक में निर्वाह न हो पाता, अतएव रात्रि के समय भी पिताजी को एक जगह काम करने जाना पड़ता था। मुझसे उनका कष्ट देखा न जाता; किन्तु करता ही क्या ? कोई उपाय न था !

मैंने एक दिन उनसे कहा—बाबूजी, अब तो मैं सयाना हो गया हूँ, एंट्रेंस भी पास कर चुका; आज्ञा दीजिये, तो कोई नौकरी कर लूँ।

उन्होंने बड़ी गम्भीरता से उत्तर दिया—बेटा, अभी तुम्हारा पढ़ने का समय है, नौकरी तुम्हें कहाँ मिलेगी ? एंट्रेन्सवालों को पन्द्रह रुपये पर भी कोई नहीं पूछता। कम-से-कम तो बी० ए० पास कर लो, ता कि भविष्य में भली भाँति अपना निर्वाह कर सको।

मैं चुप हो गया। फिर कभी यह प्रश्न नहीं उठाया। मैं कालेज में पढ़ने लगा।

तीन वर्ष और समाप्त हो गये।

मेरी स्त्री अपने इस जीवन से सन्तुष्ट थी। जैसे उसे कोई लालसा ही न हो! पिताजी उसका बड़ा आदर करते थे। दरिद्रता के भीषण तांडव-नृत्य में भी वह हँसती हुई दिखाई देती थी। उसकी ऐसी मनोवृत्ति देखकर मैं मन-ही-मन प्रसन्न होता था, अपनेको भाग्यशाली समझता था।

उस वर्ष मैंने बी० ए० की परीक्षा दी थी, सफलता की पूर्ण आशा थी; किन्तु भगवान से मेरा इतना सुख भी न देखा गया, एकाएक मेरे ऊपर वज्र गिर पड़ा। पिताजी बीमार पड़े, दो दिन की बीमारी में ही चल बसे!

अन्तिम समय में उन्होंने मुझसे कहा—बेटा, मैं अपने इस सांसारिक जीवन की परीक्षा दे चुका, भगवान ने मुझे उत्तीर्ण कर दिया है—मैं जा रहा हूँ, तुम सुखी रहो।

वे चले गये। मेरे मन में दो बातों की कलक रह गई—एक तो वह मेरे पुत्र को न देख सके, जो उनकी मृत्यु के दो मास पश्चात पैदा हुआ और दूसरी यह कि मैं अपने उपार्जित धन से उनकी कुछ सेवा न कर सका।

मेरे कष्टों ने अपना और भी भयंकर रूप बना लिया। पुत्र हुआ। दरिद्रता जीवन से परिहास कर रही थी। मेरी समझ में न आता, क्या करूँ! घर में भोजन का प्रबन्ध न

था। मेरी पत्नी की बड़ी शोचनीय दशा थी। शरीर पीला पड़ गया, एक सूखा कंकाल मात्र बच गया था। मैंने उसके कुछ आभूषणों को बेंचकर काम चलाया।

मैं बी० ए० पास हो गया था। कई स्कूलों और दफ़्तरों में नौकरी के लिये मैंने प्रार्थना-पत्र भेजे थे, किन्तु परिणाम कुछ न हुआ। मैं बेकार कई महीने तक चेष्टा करता रहा। अन्त में मुझे एक स्कूल में अध्यापक का स्थान मिला। वेतन ३०) मासिक था।

मैं बड़े परिश्रम से अध्यापन-कार्य करता रहा। कुछ लड़के मेरी पढ़ाई से असन्तुष्ट थे। प्रधानाध्यापक और अन्य अध्यापकगण मेरी ओर से सदा उदासीन रहा करते इसका मुख्य कारण था, मेरा फटा कोट, सिली हुई धोती और मैली टोपी! मेरी स्थिति ही ऐसी न थी कि मैं अपने जीवन में वस्त्रों द्वारा कुछ परिवर्त्तन कर डालता, इसलिये उन लोगों से हिल-मिल न सका। उनकी दृष्टि में रुखाई देखकर मुझे साहस भी न होता था।

छ मास के बाद मुझे स्कूल छोड़ देने के लिये सूचना मिली। कारण यह बतलाया गया विद्यार्थी पढ़ाई से असन्तुष्ट हैं।

विवश होकर मैंने स्कूल छोड़ दिया। अब कोई साधन न रहा। बहुत चेष्टा की; किन्तु इस बार तो निराश ही होना पड़ा। कहीं स्थान न मिला। पड़ोस के कुछ बालकों को पढ़ाकर चार-पाँच रुपये मिल जाते। आधे पेट और उपवास से दिन कटने लगे।

मनुष्य-मात्र से घृणा हो चली। कभी सोचता—मनुष्य इतना भयानक क्यों है? लोग एक दूसरे को खा जाने के लिये प्रस्तुत क्यों हैं? मनुष्य ने ईर्ष्या, द्वेष, घृणा की रचना करके संसार में अपना विचित्र रूप प्रकट किया है। आह! संसार में प्रलय क्यों नहीं होता—आग क्यों नहीं लगती—लोग उसमें क्यों नहीं जल जाते—हाहाकार क्यों नहीं मचता कि मैं भी उसीमें जलकर अपनी इस दुर्बल आह को बुझाकर शान्त कर देता?

ईश्वर में अश्रद्धा हो गई। नहीं-नहीं, विश्वास ही उठ गया! पुण्य और पाप में, नरक और स्वर्ग में, सन्देह होने लगा।

मेरी पत्नी बालक गोद में लेकर रो रही थी। मैंने पूछा—तुम क्यों रोती हो? मरना तो है ही, रोकर क्यों प्राण दिया जाय?

उसने सिसकते हुए कहा—आपके कष्टों को देखकर रोती हूँ।

मैंने कहा—संसार में मनुष्य कितना झूठ बोलते हैं! धन ही सब कुछ है। 'ईश्वर' नाम की कोई चीज़ नहीं है।

उसने च···च···च···करते हुए कहा—ऐसा न कहो; ईश्वर है। उसपर अविश्वास करना पाप है। यह तो हम लोग अपने पूर्व-जन्म का फल भोग रहे हैं।

मैंने समझा, यह मूढ़ है। यह इन रहस्यों को क्या समझेगी। यदि ईश्वर होता, तो अन्याय न करता—निर्धन और धनी की श्रेणी न बनाता—एक को विलास और ऐश्वर्य का सम्राट् बनाकर दूसरे को एक-एक दाने के लिये मुहताज न करता!

दिन-भर का उपवास था। उस दिन भोजन का कोई प्रबन्ध न था। बालक तक भूखा था। घर में कुछ बर्तनों के सिवा कुछ न बचा था। पीतल का एक पुराना लोटा लेकर मैं बाज़ार में उसे बेचने के लिये गया। उसे बेचा; उस दिन का काम चला। रात-भर नींद न आई; हृदय में भीषण कोलाहल था। विचार करने लगा—

भीख भी नहीं माँग सकता ! पढ़ा-लिखा आदमी हूँ, कैसे साहस होगा ?

फिर ?

आत्महत्या करूँ ?

नहीं, वह कैसे हो सकता है ? स्त्री और पुत्र फिर क्या करेंगे ? उनका निर्वाह कैसे होगा ?

तब, उनका भी अन्त कर दूँ ? किन्तु साहस नहीं ! ऐसी स्त्री को, जिसने अपना सब सुख मेरे चरणों पर अर्पित कर दिया है—आह ! उस देवी की, हत्या मैं कैसे कर सकूँगा ?

उन्मत्त विचारों में परस्पर उत्तर-प्रत्युत्तर हुआ।

मैंने अपनी मृत्यु के अनेक उपायों का अन्वेषण किया। दरिद्रता का नृत्य देखते-देखते कभी मेरे नेत्रों के सम्मुख सड़कों और गलियों में पड़े अधमरे, अन्धे, लँगड़े, लूले और भूखे भिखारियों के चित्र फिरने लगते। मैं तड़पने लगता। मेरा दम घुटने लगता। मैंने मन में फिर कहा—दरिद्रों के लिये क़ानून क्यों नहीं बनाया जाता कि उनको फाँसी दे दी जाय, बस उनके कष्टों का एक साथ ही अन्त हो जाय। मैंने निश्चय कर लिया कि मैं ही उनकी हत्या करके उनको

कष्टों से छुड़ा दूँगा और अन्त में इसी अपराध में अपने को भी सांसारिक दुःखों से मुक्त कर सकूँगा।

दूसरे दिन मैंने अपनी स्त्री से कहा—तुमको मेरे कारण बड़ा कष्ट उठाना पड़ा है। सचमुच तुम्हारा अभाग्य था जो मेरे साथ तुम्हारा विवाह हुआ। तुम देवी हो, मैं तुम्हारे योग्य न था।

मेरी आँखें छलछला उठीं।

उसने आश्चर्य से मेरी ओर देखते हुए कहा—आप ऐसी बातें क्यों करते हैं?

वह रोने लगी।

दिन बीत गया। रात हो चली थी। मैं घर से निकला। वह सो रही थी। मैं जी भरकर उसके सरल सौन्दर्य को देख लेने की चेष्टा कर रहा था। अन्तिम भेंट की कल्पना थी। हाथ में छुरा लेकर घर से निकला। सन्नाटे में भटक रहा था।

गंगा-तट पर आया। देखा, एक भिखारी पड़ा था। मैं वहीं खड़ा हो गया। मेरी नस-नस में उन्माद का संचार हो रहा था। वह पड़ा हुआ कराहता था।

मैंने पूछा—क्या चाहते हो? क्या सुख चाहिये?

उसने बड़े धीमे स्वर में कहा—बाबू मर रहा हूँ, जान भी नहीं निकलती !

मैंने तीखे स्वर में पूछा—जान देना चाहते हो ?

उसने कहा—हाँ······न······हीं ।

जान दे देने ही पर तुम्हें सुख मिलेगा—कहते हुए मैंने छुरे को उसकी छाती के पार कर दिया । वहाँ से, खून से लथपथ हाथों से, आकर थाने में अपना बयान दिया, जो आपके सामने है। मैं अपने अपराध को स्वीकार करता हूँ, मुझे इससे अधिक कुछ नहीं कहना है । मुझे फाँसी चाहिये, इसीमें मुझे शान्ति मिलेगी ।

हाँ, एक बात के लिये मैं कोर्ट से प्रार्थना करता हूँ कि वह मेरे बच्चे और स्त्री को भी फाँसी देकर मेरी अन्तिम अभिलाषा पूर्ण करे । संसार में मृत्यु से बढ़कर हम लोगों के लिये कोई सुख नहीं है । अतएव शीघ्र-से-शीघ्र हमारा निर्णय हो ।

—शान्तिप्रकाश, बी० ए०

२

जज ने ध्यान से उसके लिखित बयान को पढ़ा। उसने

बार-बार अपनी बड़ी-बड़ी गम्भीर आँखों से अपराधी की ओर देखा। सरकारी वकील खड़ा था। कोर्ट शान्त था। प्रश्न आरम्भ हुए। दर्शक उत्सुकता से आँखें फाड़-फाड़कर देख रहे थे।

जज ने पूछा—हाँ, तो तुम मरना चाहते थे? क्यों?

और अब भी चाहता हूँ।

मरने के लिये क्या यही सर्वोत्तम उपाय तुमने सोचा था? मरने के और भी ढङ्ग थे।—जज ने शासन की आँखों से देखते हुए कहा।

अभियुक्त चुपचाप अपनी खूनी आँखों से जज की तरफ देख रहा था; उसने कोई उत्तर नहीं दिया।

क्या तुम उत्तर नहीं दोगे?—जज ने फिर पूछा।

मैं अपने बयान से कुछ अधिक नहीं कहना चाहता। मैं मृत्यु-दंड चाहता हूँ, मुझे फाँसी चाहिये, फाँसी! जीते-जागते कठपुतलो! मुझे व्यर्थ क्यों छेड़ते हो? धन की लालसा में रक्त की धारा बहा देनेवालो! मुझसे बहस न करो। ऐश्वर्य के कुञ्ज में विहार करनेवाले धनिको! तुम्हें क्या मालूम, कंकड़ों पर सोने में कितनी व्यथा है—भूखे पेट की क्या हालत होती है? बस, बस,

अब विलम्ब न करो। शान्ति से मुझे मरने दो। मेरा निर्णय करो।

सब आश्चर्य से इस विचित्र अभियुक्त को देख रहे थे।

जज आँखें गुरेरता हुआ देख रहा था। सरकारी वकील ने धीरे से कहा—हुजूर, यह बड़ा भयानक मालूम पड़ता है।

प्रश्न बन्द हुए। जूरियों से जज ने सम्मति ली। अपने कमरे में जाकर फैसला लिखा—बीस वर्ष के लिये कालापानी!

फाँसी नहीं हुई!!

अभियुक्त ने फैसला सुनकर कर्कश स्वर में कहा—तड़पा-तड़पाकर मारने से अच्छा है कि एक ही बार मार डालो।

जज ने शेर की तरह गरजकर कहा—वहाँ तुम्हारे भोजन का प्रबन्ध सरकार कर देगी। चुप रहो।

सिपाहियों की ओर देखते हुए जज ने संकेत किया—ले जाओ इसे यहाँ से।

बेड़ी खनखनाई। सिपाहियों ने गर्दन पर झटका देते हुए कहा—चल!

२

दस वर्ष के बाद—

शान्तिप्रकाश पोर्ट-ब्लेयर के पास, समुद्र-तट पर, पत्थरों के बाँध बना रहा था। फावड़ा रखकर, पसीना पोंछते हुए, उसने एक बार समुद्र का भीषण हाहाकार देखा। किरणें डूब रही थीं। उस जगह और कोई कैदी न था। अन्धकार हो चला था। सब अपने झोपड़ों की तरफ़ लौटने लगे। सहसा पास के झुरमुट से चिल्लाने का स्वर सुन पड़ा।

शान्ति-प्रकाश उधर दौड़ा। उसने देखा कि एक कुली एक स्त्री पर अत्याचार किया ही चाहता है। न जाने क्यों, उसका फावड़ा वेग से चल पड़ा। बेचारी स्त्री उस कुली के अत्याचार से मुक्त होकर शान्तिप्रकाश को देखने लगी—और वह उसे देखने लगा।

दूसरे ही क्षण स्त्री ने कहा—मेरे नाथ! मेरे स्वामी!!

शान्तिप्रकाश ने पूछा—गोमती! तुम हो? और किशोर कहाँ है?

स्त्री ने कहा—किशोर भूख से तड़पकर मर गया। उसका अन्तिम संस्कार कैसे किया जाता, इसलिये उसके

शव को झोपड़ी में ही रखकर मैंने आग लगा दी। मैं भी उसी अपराध के कारण द्वीपान्तर का दंड पाकर आई हूँ।

शान्तिप्रकाश और गोमती की आँखों में जैसे आँसू सूख गये थे। वह भयानक मिलन बड़ा ही कठोर था।

शान्तिप्रकाश ने विचार करते हुए कहा—अच्छा, चलो, हम लोगों को भागना पड़ेगा। सम्भवतः यह आदमी मर गया। तुम्हारी और किशोर की कथा बाद में सुनूँगा, पहले जीते रहने का प्रबन्ध करना पड़ेगा।

दोनों को उस धुँधले में किसीके आने का सन्देह होने लगा। वे भाग चले। वे भागते-भागते फिर उसी समुद्र-तट पर आये।

दोनों हाँफ रहे थे। अब उनका पकड़ा जाना निश्चित था; क्योंकि पुलिस पास पहुँच चुकी थी।

शान्तिप्रकाश ने निराश दृष्टि से एक बार गोमती की ओर देखा।

उसने भी आँखों की भाषा में कहा—हाँ!

दोनों, हाथ में हाथ मिलाकर, समुद्र में कूद पड़े!



विद्रोही

१

"मान जाओ, तुम्हारे उपयुक्त यह कार्य न होगा।"

"चुप रहो—तुम क्या जानो।"

"इसमें वीरता नहीं है, अन्याय है।"

"बहुत दिनों की धधकती हुई ज्वाला आज शान्त होगी।"—शक्तिसिंह ने, एक लम्बी साँस खींचते हुए, अपनी स्त्री की ओर देखा।

".."

".."

"कलंक लगेगा, अपराध होगा।"

"अपमान का बदला लूँगा। प्रताप के गर्व को मिट्टी में मिला दूँगा। आज मैं विजयी होऊँगा।"—बड़ी दृढ़ता से कहकर शक्तिसिंह ने शिविर के द्वार पर से देखा—मुग़ल-सेना के चतुर सिपाही अपने-अपने घोड़ों की परीक्षा ले रहे थे। धूल उड़ रही थी। बड़े साहस से सब एक दूसरे में उत्साह भर रहे थे।

"निश्चय महाराणा की हार होगी। बाईस हज़ार राजपूतों को दिन-भर में मुग़ल-सेना काटकर सूखे डंठल की भाँति गिरा देगी।"—साहस से शक्तिसिंह ने कहा।

"भाई पर क्रोध करके, देश-द्रोही बनोगे......"—कहते-कहते उस राजपूत-बाला की आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगीं।

शक्तिसिंह अपराधी की नाईं विचार करने लगा। जलन का उन्माद उसकी नस-नस में दौड़ रहा था। प्रताप के प्राण लेकर ही छोड़ेगा, ऐसी प्रतिज्ञा थी। नादान-दिल किसी तरह न मानेगा। उसे कौन समझा सकता था ?

रणभेरी बजी।

कोलाहल मचा। मुग़ल-सैनिक मैदान में एकत्र होने

लगे। पत्ता-पत्ता खड़खड़ा उठा। बिजली की भाँति तलवारें चमक रही थीं। उस दिन सबमें उत्साह था। युद्ध के लिए भुजाएँ फड़कने लगीं।

शक्तिसिंह ने घोड़े की लगाम पकड़कर कहा—आज अन्तिम निर्णय है, मरूँगा या मारकर ही लौटूँगा!

शिविर के द्वार पर खड़ी मोहिनी अपने भविष्य की कल्पना कर रही थी। उसने बड़ी गम्भीरता से कहा—ईश्वर सद्‌बुद्धि दे, यही प्रार्थना है।

२

एक महत्त्वपूर्ण अभिमान के विध्वंस करने की तैयारी थी। प्रकृति काँप उठी। घोड़ों और हाथियों के चीत्कार से आकाश थरथरा उठा। बरसाती हवा के थपेड़ों से जङ्गल के वृक्ष रण-नाद करते हुए झूम रहे थे। पशु-पक्षी भय से त्रस्त होकर आश्रय ढूँढ़ने लगे। बड़ा विकट समय था।

उस भयानक मैदान में राजपूत-सेना मोर्चाबन्दी कर रही थी। हल्दीघाटी की ऊँची चोटियों पर भील लोग धनुष चढ़ाये उन्मत्त के समान खड़े थे।

"महाराणा की जय!"—शैलमाला से टकराती हुई ध्वनि मुग़ल-सेना में घुस पड़ी। युद्ध आरम्भ हुआ। भैरवी

रणचंडी ने प्रलय का राग छेड़ा। मनुष्य हिंस्र जन्तुओं की भाँति अपने-अपने लक्ष्य पर टूट पड़े। सैनिकों के निडर घोड़े हवा में उड़ने लगे। तलवारें बजने लगीं। पर्वतों के शिखरों से विषैले बाण मुग़ल-सेना पर बरसने लगे। सूखी हल्दी-घाटी में रक्त की धारा बहने लगी।

महाराणा आगे बढ़े। शत्रु-सेना का व्यूह टूटकर तितर-बितर हो गया। दोनों ओर के सैनिक कट-कटकर गिरने लगे। देखते-देखते लाशों के ढेर लग गये।

भूरे बादलों को लेकर आँधी आई। सलीम के सैनिकों को बचने का अवकाश मिला। मुग़लों की सेना में नया उत्साह भर गया। तोप के गोले उथल-पुथल करने लगे। धाँय-धाँय करती बन्दूक से निकली हुई गोलियाँ दौड़ रही थीं—ओह! जीवन कितना सस्ता हो गया था!

महाराणा शत्रु-सेना में सिंह की भाँति उन्मत्त होकर घुस रहे थे। जान की बाजी लगी थी। सब तरफ़ से घिरे थे। हमला-पर-हमला हो रहा था। प्राण संकट में पड़े। बचना कठिन था। सात बार घायल होने पर भी पैर उखड़े नहीं, मेवाड़ का सौभाग्य इतना दुर्बल नहीं था।

मानसिंह की कुमंत्रणा सिद्ध होनेवाली थी। ऐसे

आपत्ति-काल में वह वीर सरदार सेना-सहित वहाँ कैसे आया ? आश्चर्य से महाराणा ने उसकी ओर देखा—वीर मन्नाजी ने उनके मस्तक से मेवाड़ के राज्य-चिह्नों को उतारकर स्वयं धारण कर लिया। राणा ने आश्चर्य और क्रोध से पूछा—"यह क्या ?"

"आज मरने के समय एक बार राज-चिह्न धारण करने की बड़ी इच्छा हुई है।"—हँसकर मन्नाजी ने कहा। राणा ने उस उन्माद-पूर्ण हँसी में अटल धैर्य देखा।

मुग़लों की सेना में से शक्तिसिंह इस चातुरी को समझ गया। उसने देखा—घायल प्रताप रण-क्षेत्र से जीते-जागते निकले चले जा रहे हैं ! और, वीर मन्नाजी को प्रताप समझकर मुग़ल उधर ही टूट पड़े हैं।

उसी समय दो मुग़ल-सरदारों के साथ, महाराणा के पीछे-पीछे, शक्तिसिंह ने अपना घोड़ा छोड़ दिया।

२

खेल समाप्त हो रहा था। स्वतंत्रता की बलि-वेदी पर सन्नाटा छा गया था। जन्मभूमि के चरणों पर मर-मिटने-वाले वीरों ने अपनेको उत्सर्ग कर दिया था। बाईस हज़ार राजपूत वीरों में से केवल आठ हज़ार बच गये थे।

विद्रोही शक्तिसिंह चुपचाप सोचता हुआ अपने घोड़े पर चढ़ा चला जा रहा था। मार्ग में कटे शव पड़े थे—कहीं भुजाएँ शरीर से अलग पड़ी थीं, कहीं धड़ कटा हुआ था, कहीं खून से लथपथ मस्तक भूमि पर गिरा हुआ था। कैसा परिवर्त्तन है!—दो घड़ियों में हँसते-बोलते और लड़ते हुए जीवित पुतले कहाँ चले गये? ऐसे अनित्य जीवन पर इतना गर्व!

शक्तिसिंह की आँखें ग्लानि से छलछला पड़ीं—

"ये सब भी राजपूत थे, मेरी ही जाति के खून थे! हाय रे मैं! मेरा प्रतिशोध पूरा हुआ,—क्या सचमुच पूरा हुआ? नहीं, यह प्रतिशोध नहीं था, अधम शक्ति! यह तेरे चिर-कलङ्क के लिए पैशाचिक आयोजन था। तू भूला, पागल! तू प्रताप से बदला लेना चाहता था—उस प्रताप से, जो अपनी स्वर्गादपि गरीयसी जननी जन्म-भूमि की मर्यादा बचाने चला था!. वही जन्म-भूमि जिसके अन्न-जल से तेरी नसें भी फूली-फली हैं! अब भी तो माँ की मर्यादा का ध्यान कर!"

सहसा धाँय-धाँय गोलियों का शब्द हुआ। चौंककर शक्तिसिंह ने देखा—दोनों मुगल-सरदार प्रताप का पीछा

कर रहे थे। महाराणा का घोड़ा लस्त-पस्त होकर झूमता हुआ गिर रहा है। अब भी समय है। शक्तिसिंह के हृदय में भाई की ममता उमड़ पड़ी।

एक आवाज हुई—रुको!

दूसरे क्षण शक्तिसिंह की बन्दूक छुटी, पलक मारते दोनों मुगल-सरदार जहाँ-के-तहाँ ढेर हो गये। महाराणा ने क्रोध से आँख चढ़ाकर देखा। वे आँखें पूछ रही थीं—क्या मेरे प्राण पाकर तुम निहाल हो जाओगे? इतने राजपूतों के खून से तुम्हारी प्रतिहिंसा तृप्त नहीं हुई?

किन्तु यह क्या, शक्तिसिंह तो महाराणा के सामने नतमस्तक खड़ा था। वह बच्चों की तरह फूट-फूटकर रो रहा था। शक्तिसिंह ने कहा—नाथ! सेवक अज्ञान में भूल गया था, आज्ञा हो तो इन चरणों पर अपना शीश चढ़ाकर पद-प्रक्षालन कर लूँ, प्रायश्चित्त कर लूँ!

राणा ने अपनी दोनों बाँहें फैला दीं। दोनों के गले आपस में मिल गये, दोनों की आँखें स्नेह की वर्षा करने लगीं। दोनों के हृदय गद्गद् हो गये।

इस शुभ मुहूर्त पर पहाड़ी वृक्षों ने पुष्प-वर्षा की, नदी की कल-कल धाराओं ने स्तुति-गान किया।

प्रताप ने उन डबडबाई हुई आँखों से ही देखा—उनका चिर-सहचर प्यारा 'चेतक' दम तोड़ रहा है। सामने ही शक्तिसिंह का घोड़ा खड़ा था।

शक्तिसिंह ने कहा—भैया! अब आप विलम्ब न करें, घोड़ा तैयार है।

राणा, शक्तिसिंह के घोड़े पर सवार होकर, उस दुर्गम मार्ग को पार करते हुए निकल गये।

४

श्रावण का महीना था।

दिन-भर की मार-काट के पश्चात्, रात्रि बड़ी सून-सान हो गई थी। शिविरों से महिलाओं के रोदन की करुण ध्वनि आकर हृदय को हिला देती थी। हजारों सुहागिनियों का सुहाग उजड़ गया था। उन्हें कोई ढाढ़स बँधानेवाला न था; था तो केवल हाहाकार, चीत्कार, कष्टों का अनन्त पारावार!

शक्तिसिंह अभी तक अपने शिविर में नहीं लौटा था। उसकी पत्नी भी प्रतीक्षा में विकल थी, उसके हृदय में जीवन की आशा-निराशा च्रण-च्रण उठती-गिरती थी।

अँधेरी रात में काले बादल आकाश में छा गये थे।

एकाएक उस शिविर में शक्तिसिंह ने प्रवेश किया। पत्नी ने कौतूहल से देखा, उसके कपड़े खून से तर थे।

"प्रिये !"

"नाथ !"

"तुम्हारी मनोकामना पूर्ण हुई—मैं प्रताप के सामने परास्त हो गया !"



पतित

१

हाय ! घर छूटा, माता-पिता छूटे, भाई-बन्धु छूटे—

यह सब किसके लिए ? केवल तुम्हारे प्रेम के लिए ! किन्तु तुम्हीं विचार करो कि तुम्हारा वही पहले-जैसा प्रेम है ?

दिवाकर ने कहा—जो कुछ भी हो, अब मेरा यहाँ रहना असम्भव है। मेरा जीवन नष्ट हो गया, मैं संसार में मुँह दिखाने लायक न रहा। इस तरह धन के अभावों से और कितने दिन व्यतीत होंगे ?

रागिनी ने कहा—तुम पुरुष हो, जहाँ जाओगे, पैदा कर अपना पेट भर लोगे; किन्तु एक निःसहाय अबला का जीवन नष्ट हो रहा है!

दिवाकर—बस, मुझे क्षमा करो, अब मैं तुमसे विदा होता हूँ। तुम मुझे एकदम भूल जाओ।

रागिनी ने कुछ उत्तर न दिया। उसके नेत्रों से अश्रु-पात हो रहा था। जब तक धन, अलंकार आदि थे, तब तक उसे बेचकर खर्च चलाता रहा, और दिवाकर भी बड़ा प्रसन्न था—बड़े प्रेम से बातें करता था। किन्तु जब धन, आभूषण समाप्त हो गये, तो भोजन के लाले पड़ गये। फिर कौन किसका है? आजकल के प्रेम का अन्त होते कितनी देर लगती है? यही दिवाकर जिस समय रागिनी के साथ प्रेम करता था, उस समय दिन-रात इसी चिन्ता में रहता कि रागिनी के दर्शन कैसे होंगे। दिन-रात आहें भरता; रागिनी को पत्र लिखने में ही सारा दिन बिता देता; रात को स्वप्न देखता, तो यही कि वह रागिनी से प्रेमपूर्वक बातें कर रहा है।

रागिनी बड़ी सुन्दर थी। एक बार उसे देखकर श्रद्धा उत्पन्न होती थी। उसमें देवी की तरह भोलापन था।

वह सुशील भी बहुत थी। किन्तु दिवाकर के प्रेम ने उस अबोध बालिका का घर छुड़ाया। प्रेम के रङ्ग में रँगे हुए दिवाकर और रागिनी ने अपने भविष्य पर ध्यान न दिया। किन्तु क्या रागिनी को स्वप्न में भी यह आशा थी कि दिवाकर उसके साथ ऐसा व्यवहार करेगा। इस समय उसके नेत्रों के सम्मुख पूर्वकाल के सब दृश्य आ गये। वह केवल चुपचाप बैठकर रोने लगी। किन्तु दिवाकर उसी समय चला गया।

कई दिन रागिनी को उपवास करते बीत गये, भोजन की इच्छा ही न होती थी। रागिनी के पास एक बुढ़िया कभी आया करती थी। वह बराबर दिवाकर की निन्दा किया करती थी। आखिर एक दिन वह बोली—तू व्यर्थ इतना कष्ट उठा रही है; ईश्वर ने तुझे रूप दिया है, मेरे कहने पर चल, तो तेरा जीवन बन जाय।

रागिनी भली भाँति जानती थी कि बुढ़िया बुरे कर्म के लिए उपदेश दे रही है। किन्तु वह चुपचाप सब सुनती रही। बुढ़िया ने उसे चुप देखकर पुनः कहा—जब एक बार घर से निकल चुकीं, तब लज्जा क्या? आनन्द से जीवन व्यतीत करो, ऐसे पचासों दिवाकर आकर पैर चूमेंगे।

रागिनी ने क्रोध से कहा—क्या बक रही हो, व्यर्थ की बातें न करो! मैं अपना बुरा-भला खुद समझती हूँ।

रागिनी को क्रोध में देखकर बुढ़िया नम्र हो गई। रागिनी के मन में तरह-तरह की बातें उठने लगीं। एक बार वह सोचती—मैं तो इस समय वैसे भी कलंकित हूँ, किसी प्रकार का आश्रय पाना असम्भव है; सब घृणा की दृष्टि से देखते हैं; फिर जीवन का कैसे निर्वाह होगा?

इसी तरह नित्य विचार करते-करते एक दिन उसके हृदय ने कहा—बुढ़िया ठीक कहती है, अब लज्जा क्या? जब समाज में कलंकित हो चुकी, लोगों की दृष्टि में गिर गई, तब लज्जा कैसी!

इसी सोच-विचार में वह कई दिनों तक लीन रही। अन्त में उसने बुढ़िया की बातें स्वीकार कर लीं!

२

कितना सुन्दर गृह था! झाड़-फानूस आदि से कमरा सजा था। मखमल के गद्दे बिछे थे। वहाँ पर दो पुरुष बैठे थे। गृह के सामने एक नजर-बाग था। पूर्णिमा की रात थी। वर्षा के बादल थोड़ी-थोड़ी देर पर चन्द्रदेव को छिपा लेते थे। अचानक मकान से, बड़े मीठे स्वर में, एक गाना सुन पड़ा।

ज्ञात होता था कि गानेवाले के हृदय में विरह की ज्वाला दहक रही है। गाना समाप्त होते ही किसीने कहा—वाह-वाह ! कितना मनमोहक राग है ! वाह रे मालती, कमाल कर दिया !

मालती के एक-एक भाव पर लोग मोहित थे। उसका ठाट अब एक रानी की तरह था। अब उसकी एक-एक चाल में नजाकत भरी थी। पहले उसका जीवन कितना सादा और पवित्र था—छल-कपट कुछ भी न था। उसे किसीसे बात करने में भी संकोच होता था।

मालती ! क्या तू वही रागिनी है ? नहीं-नहीं, तू वह नहीं है, तुझमें इतना परिवर्तन कहाँ से हो गया ? इन चार वर्षों में तूने इतना धन कैसे पैदा किया ? तेरे व्यवहार में पहले से अब कितना अन्तर है ? एक समय था, जब तू भूखों मरती और किसीसे याचना न करती थी। किन्तु आज वह समय है कि तू मीठे-मीठे वचनों की छुरी फेरकर लोगों से रुपया ऐंठ लेती है। इतनी चतुरता, इतना कपट, इतना धन का लोभ तुझमें कहाँ से आया ? ईश्वर ही जाने !

इस समय मोटर, गाड़ी, नौकर, धन—सभी वस्तुएँ

रागिनी—नहीं, मालवी—के पास हैं। उसे अब किसी चीज का अभाव नहीं है। वह कहती—मेरा जीवन अब कितना सुखमय है! अब वह प्रेम को धिक्कारती है। वह कहती—प्रेम क्या है, आज-कल सुन्दरता देखकर लोग मोहित हो जाते हैं, क्या यही प्रेम है? किन्तु हाय! वह प्रेम कितना भीषण था, जब मैं दिवाकर के लिए दिन-रात अश्रुपात करती थी। एक बार दिवाकर को देखकर ही नेत्र प्रफुल्लित हो जाते थे। आज कितने सुन्दर-से-सुन्दर पुरुष यहाँ आते हैं; किन्तु अब मेरे हृदय में उनके प्रति कभी प्रेम नहीं होता। नहीं-नहीं, उस समय मेरी कितनी भूल थी! मैं प्रेम की तरंग में सब कुछ भूल गई, और अब समाज में कलंकित हूँ—पापमय मेरा जीवन है! इस समय मैं बड़े सुख से जीवन व्यतीत कर रही हूँ; किन्तु हाय! मेरे हृदय में शान्ति नहीं है!

रागिनी कभी रोती—कभी हँसती और कभी विचार में लीन हो जाती। इसी प्रकार उसके सात वर्ष व्यतीत हो गये।

२

अभागा दिवाकर बहुत दिनों तक इधर-उधर भटकता

रहा। उसका जीवन पापमय है। उसने रागिनी को छोड़ कलकत्ते जाकर जूआ खेलना आरम्भ किया—धीरे-धीरे शराब पीना भी। नित्य नई-नई पाप-लीला होने लगी। वह पाप-पंक में गरदन तक धँस गया। अनेक कष्ट सहते-सहते एक दिन उसे आत्मग्लानि हुई। वह मन-ही-मन कहने लगा—हाय! मैंने अपना जीवन व्यर्थ ही गँवाया, इस संसार में कितनों को दुःखित किया, कितनों का सर्वनाश किया, रागिनी को मैंने निःसहाय छोड़ दिया! बूढ़ी माता की भी—मेरे दुर्व्यवहार और वियोग के कारण—मृत्यु हो गई। हाय! मैं कितना पापी हूँ; क्या नरक में भी मुझे स्थान मिलेगा?

आज दिवाकर के हृदय में यह भाव कैसे उत्पन्न हुआ, आश्चर्य है! किन्तु नहीं, एक बार जो भली भाँति संसार देख लेता है, वह इस माया-जाल का भेद बहुत-कुछ समझ जाता है। दिवाकर की भी ठीक यही दशा है। वह बहुत कुछ अनुभव कर चुका। अस्तु, उसकी मनोवृत्ति का बदलना कुछ आश्चर्य की बात नहीं।

जाह्नवी के तट पर बैठा हुआ दिवाकर इसी विचार में लीन था। चाँदनी रात थी। चन्द्रदेव का प्रकाश गंगा की

लहरों पर पड़ रहा था। उसका हृदय व्याकुल हो रहा था। वह आप-ही-आप कहने लगा—हाय ! मैंने रागिनी के जीवन को नष्ट कर डाला। उस समय—ओफ ! उस समय मेरे हृदय को क्या हो गया था। किन्तु करता ही क्या ? उसे छोड़ न देता, तो जीवन-निर्वाह किस प्रकार होता ! मुझमें कोई गुण भी तो नहीं, जिससे धन उपार्जन करता। किन्तु यह सब होते हुए भी मैंने रागिनी के साथ बड़ा ही अन्याय किया। न जाने बेचारी किस प्रकार अपना जीवन व्यतीत करती होगी। प्रभो ! अब इस जीवन का अन्त कर दो !

बहुत दिनों पर आज दिवाकर के मुख से 'प्रभो' शब्द निकला। ठीक है, आपत्ति-काल में ईश्वर अवश्य याद आता है। उस दिन से दिवाकर के हृदय में ईश्वर की भक्ति उत्पन्न हुई। मानव-जाति से उसे घृणा हो गई। उसने निश्चय किया कि अब पर्वत और जंगलों में भ्रमण कर, प्रकृति के दृश्यों को देखकर, ईश्वराराधन करके, शेष जीवन व्यतीत करूँगा।

४

आज रागिनी एक भयंकर स्वप्न देख रही थी। उसने

देखा, मानों एक काले रंग का—भयानक सूरतवाला—कोई मनुष्य उसके सामने खड़ा है, और कह रहा है—देख रागिनी, तेरी दशा बड़ी बुरी होगी; किस लिए तू इतना पाप कर रही है। इस पाप के लिए तुझे कितना भीषण दंड मिलेगा, यह तू नहीं जानती। एक बार सम्हल जा, नहीं तो पछतायेगी। विचार कर, संसार में एक भी ऐसा व्यक्ति है, जो तेरा अपना हो, या तुझसे सहानुभूति प्रकट करे ?

रागिनी चौंक उठी। उसका सारा शरीर रोमांचित हो गया। उसकी नींद खुली। देखा, कुछ भी न था ! वह बहुत डरी और विचार करने लगी। उस समय रजनी के तीन पहर बीत चुके थे। फिर उसे नींद नहीं आई।

प्रातःकाल जी बहलाने के लिए वह अपने उपवन में गई। किन्तु वहाँ भी उसे शान्ति नहीं मिली। वह बैठी हुई यह बिचार कर रही थी कि मेरा अन्त बहुत बुरा होगा। सहसा उसकी दृष्टि एक भ्रमर पर पड़ी, जो आकर एक अधखिली कली पर बैठा उसका रस पान कर रहा था।

रागिनी विचार करने लगी कि भ्रमर कितना स्वार्थी है। जिस समय कली खिलती है, वह आता है और उसका रस

ठे जाता है; किन्तु जब वे कलियाँ खिलकर मुरझा जाती हैं, वह भूलकर भी उनकी ओर नहीं देखता। संसार की भी ऐसी ही दशा है। मैंने जो इतना धन पैदा किया, वह क्या होगा ? हाय ! मैंने कितनों का गला काटा है, घर नष्ट किया है; तब कहीं इतनी सम्पत्ति एकत्र हुई है; पर यह सब किसके लिए ! परिणाम क्या ? वही नरक की दुःसह यंत्रणा !

रागिनी अधीर हो उठी। उसने दोनों हाथों से अपना मुँह ढँक लिया, और फूट-फूटकर रोने लगी।

कुछ देर के बाद उसने निश्चय किया कि अब शेष जीवन तीर्थयात्रा तथा भगवद्भजन में ही व्यतीत करूँगी।

नगर में चारों ओर लोगों के मुँह से यही सुनाई देता था कि मालती न जाने कहाँ चली गई। उसके चले जाने से मानों नगर ही सूना हो गया। वह कितना अच्छा गाती थी, कितनी सुन्दर थी, एक बार उसे देखकर ही नेत्र प्रफुल्लित हो जाते थे !

५

पहाड़ पर अपूर्व शोभा थी। झरना गिर रहा था। उधर हिरन का झुंड जा रहा है, इधर पक्षी कोलाहल मचा रहे हैं। प्रभात का समय था। पूर्व-दिशा में शुभ्र-

कुछ लाली छा रही थी। पुष्पों की मधुर सुगन्ध बड़ी ही मनमोहक थी।

झरने के पास बैठी हुई रागिनी प्रकृति का दृश्य देख रही थी! उसने कहा—मानव-समाज से अलग रहने में कितना सुख है—न किसी प्रकार की चिन्ता और न कोई दुःख!

रागिनी के शरीर पर केवल एक सादी धोती थी। किन्तु, उसकी सुन्दरता अपूर्व थी। मार्ग में जो लोग उसे देखते, चकोर की भाँति देखते ही रह जाते। उसको इससे बड़ा दुःख होता था कि यहाँ पर भी उसे छुटकारा नहीं! मानव-समाज से उसे घृणा-सी हो गई। वह कहती—क्या संसार में सभी स्वार्थी और पापी हैं। वह अपने रूप को नष्ट करना चाहती थी; किन्तु यह असम्भव था।

कुछ समय के पश्चात् रागिनी झरने के पास से उठी और चल पड़ी। उसे सायंकाल के पहले ही चार कोस चलकर एक स्थान पर पहुँचना था। उसके कोमल पैरों में चलते-चलते छाले पड़ गये थे। उस समय आकाश में बादल छा गये। यह भी ज्ञात होता था कि कुछ देर में आँधी आयगी।

सहसा रागिनी की दृष्टि जंगल की एक कुटी पर पड़ी।

उसने निश्चय किया कि कुछ देर वहाँ चलकर ठहरूँ; फिर पानी बरसने के बाद वहाँ से चल पड़ेंगे। वह उस कुटी के पास पहुँची ही थी कि वर्षा जोरों से होने लगी। उसने देखा कि कुटी में एक योगी हैं, जो नेत्र बन्द किये ईश्वराराधन कर रहे हैं।

योगी के नेत्र जब खुले, तो वह रागिनी को खड़ी देख आश्चर्य करने लगे। रागिनी ने मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम किया। उन्होंने आशीर्वाद दिया। उन्होंने तो रागिनी को पहचान लिया; किन्तु रागिनी उनके जटा बढ़ाये दुर्बल शरीर को पहचान न सकी। उन्होंने रागिनी को बैठने के लिए एक आसन दिया। रागिनी ने बड़े करुण शब्द में कहा—प्रभो! मैं बड़ी पतिता हूँ, मेरा जीवन पाप से भरा है। संसार से विरक्त—मानव-समाज से घृणा—होने के कारण अब मैं तीर्थयात्रा के लिए निकली हूँ। इस पतित वेश्या को आप क्षण-भर यहाँ बैठने की आज्ञा दे सकेंगे?

योगी ने एक आह भरकर कहा—देवि! इस संसार की लीला विचित्र है। यहाँ कोई किसी बात का डर नहीं है। जो पहले पतित होता है, वास्तव में उसीका जीवन अन्त में सुधरता है।

रागिनी कुछ देर तक आश्चर्य-चकित हो गई। कारण, यह स्वर तो उसका चिर-परिचित था। उसने पूछा—क्या आप 'दिवाकर' तो नहीं हैं?

योगी ने कहा—हाँ रागिनी, मैं ही तुम्हारा अभागा 'दिवाकर' हूँ!



बदला

१

देश में अकाल पड़ा था। गाँव-देहात उजड़ा हुआ था। दिन अँधेरी रात की तरह भयानक मालूम पड़ता। लोग दानों के लिये तरसते, भूख से छटपटाते और पैसे के लिये रोते थे। ओह! दैव का कितना भीषण परिहास था! आँखें धँस गई थीं, ठोकरें बैठ गई थीं और शरीर निर्बल हो गया था।

गाँव के लोग कहते, ईश्वर का कोप है। बरसात आकाश की ओर देखते ही कटी, जाड़ा ठिठुरते हुए कटा

और गरमी अब धूप की ज्वाला से कट रही है। कैसा अद्भुत खेल है! सचमुच अकाल था। भूमि अपना सूना आँचल फैलाये हुए बैठी थी।

वह गाँव सिसक रहा था। चन्द्रमा ने झोपड़ियों के उस टिमटिमाते हुए प्रकाश को चुरा लिया था। चाँदनी अपनी छाया में बैठाकर उन झोपड़ियों से उसकी कहानी सुनती। सियार बोल रहे थे। कुत्ते भूँक रहे थे। सन्नाटा था। रजनी तांडव-नृत्य देख रही थी।

मोती अपनी उदास झोपड़ी में पड़ा सोचता था। रात आँखों से खूब लड़ी थी। जागते ही कटी। जमींदार को मालगुज़ारी देना है। खेत बेदखल हो जायगा, घर उजड़ जायगा, सब समाप्त हो जायगा।

मोती गरीब था। सबका ताबेदार, नौकर था। वह अभागा अछूत था।

भैंस, बकरी और बैल तो कर्ज़ में ही नीलाम हो गये थे। खेत भी बेदखल हो गया। झोपड़ी जर्जर हो गई थी। मोती के पास केवल लाल और सफ़ेद गाय बच गई थी। वह उसे बहुत प्यार करता था। खेत में काम करते हुए

जब मोती पुकारता, लाली !—वह दौड़ती हुई पहुँचती। पालतू कुत्ते की तरह वह गाय मोती के साथ फिरती। नौ महीने की बछिया थी, तभी से उसने उसको पाला था। इससे मोती को उसका बड़ा मोह था।

सोना को पीहर पहुँचाकर मोती बंबई जायगा; नौकरी करेगा, पैसा पैदा करेगा, भूखों मरने से बचेगा।

रेल के टिकट के लिये रुपये न थे। मोती लाली को बेचेगा। सोना ने लाली को न बेचने का अनुरोध किया; किन्तु मोती विवश था। रुपये कहाँ से आते? सब कुछ चला गया था, बच गई थी लाली! बम्बई के भाड़े के लिये वह भी निकल जायगी।

अत्याचार सहन करते-करते मोती कठोर हो गया था। वह खुद बिक जाता, मगर लाली को न बेचता; किन्तु मोती सबसे हाथ धो बैठा था। उसका दिल पत्थर हो गया था।

सोना का बाप एक दूसरे गाँव का चौकीदार था। बस पाँच बीघा भूमि थी। सोना ने वहीं चलकर रहने को कहा था। उसके पिता ने भी इसपर जोर दिया। किन्तु ससुराल की रोटी तोड़ना मोती को पसन्द न था। वह बड़ी आन का था।

सोना को पीहर पहुँचाकर मोती लौट आया। चलते समय सोना ने आँसू बहाते हुए कहा—"चिट्ठी भेजना और हो सके तो साल-छः महीने में चले आना।"

"ईश्वर की जैसी इच्छा!"—कहकर मोती चला आया।

मोती के घर में भगवान तिवारी का बड़ा मान था। गाँव में वह बड़े सीधे, सरल ब्राह्मण थे। मोती की लाली उन्हें बड़ी पसन्द थी। मार्ग में जब कभी देखते तो उसकी पीठ पर हाथ फेरते हुए पुचकारते। मोती जानता था, लाली उनके यहाँ सुखी रहेगी। अतएव लाली को लेकर मोती उनके द्वार पर पहुँचा। प्रणाम किया।

उन्होंने पूछा—कहो मोती, कैसे चले?

"महाराज, सब कुछ चला गया, अब मैं भी बम्बई जा रहा हूँ।"—मोती ने उत्तर दिया।

"क्या करोगे, दिन का फेर बड़ा विचित्र होता है। ज़मींदार बड़ा दुष्ट है। अन्धेर-नगरी है। कारिन्दा जो चाहता है, करता है। ज़मींदार को अपनी मौज से ही फ़ुर्सत नहीं मिलती।"—कहकर तिवारीजी लाली की ओर देखने लगे।

"भाग्य में जो लिखा था, सो हुआ। अब आप लोगों का आशीर्वाद लेकर जाता हूँ। टिकट के रुपये नहीं हैं। लाली को लेकर आया हूँ, २०) रुपये की जरूरत है। लाली आपके यहाँ रहेगी।"—मोती ने बड़ी निराशा से कहा।

"तुम्हारे ऊपर उसे तनिक भी दया न आई, उजाड़कर ही छोड़ा! कब जाओगे?"—विचार करते हुए तिवारीजी ने कहा।

"आज ही!"

उन्होंने घर से २०) रुपये लाकर दिये। मोती रुपये लेकर लाली की तरफ़ देखने लगा। लाली भी उसकी ओर देख रही थी। बड़ा करुण दृश्य था। मोती ने लाली के गले में हाथ डालकर उसे चूम लिया, और चला गया।

कुछ दूर जाने पर वाँ······आँ······शब्द सुनाई पड़ा। मोती ने सोचा, लाली पुकार रही है; किन्तु हृदय पर हाथ रखकर यह कहते हुए चला गया—"लाली, तुम्हारे भाग्य से मैं पैसेवाला हो जाता तो······"

मोती बरबाद हो गया, उजड़ गया!

२

मोती बम्बई पहुँच गया था। वह भौंचक्का होकर शहर

देखने लगा। जैसे, किसी भूल-भुलैया में भटकने लगा। देहाती आदमी, किसीसे परिचित न था। मोटर की भों-भों और घोड़ा-गाड़ी की हटो-बचो से घबड़ा उठा था। "कहाँ जाय ? क्या करे ? नौकरी कहाँ मिलेगी ?" ये ही प्रश्न बार-बार उठते। कई दिन बीत गये। साहस नहीं होता था, बात कैसे करे ?

सन्ध्या हो चली थी। मोती भूखा था। नौकरी की खोज में वह नगर से कुछ दूर चला आया था। एक जगह खड़ा होकर देखने लगा। बड़ा भारी हाता था, उसीमें गाय-भैंसें बँधी थीं। उसने अपने ही जैसे मैले वस्त्रों में कुछ काम करनेवालों को देखा। सलाम-बन्दगी हुई। परिचय हुआ। मोती ने अपना अभिप्राय प्रकट किया। उसके प्रति उन लोगों की सहानुभूति हुई। उसी दिन साहब से भेंट हुई, मोती को नौकरी मिली।

साहब की 'डेरी' थी। दूध का व्यवसाय होता था। मोती को दूध दूहने का काम मिला था। वह इस काम में निपुण भी था। साहब के सामने उसकी परीक्षा हुई थी।

दिन-पर-दिन बीतने लगा। वह बड़े परिश्रम से अपना कार्य्य करता। अपने नम्र व्यवहार के कारण सबसे दिल-

मिल गया था। साहब उससे बड़े प्रसन्न रहते। उसका विश्वास जमता गया।

सोना का लिखवाया हुआ पत्र मिला था। मोती का हाल पूछा था, रुपये माँगे थे; और कब आवेगा, यह भी पूछा था।

मोती ने सोना को रुपये भेजे और उत्तर में लिखवाया—"मैं अब बड़े सुख से यहाँ हूँ। साहब के पास रुपया जमा कर रहा हूँ। दूध के व्यवसाय में यहाँ बड़ा लाभ है, मैं अच्छी तरह उसे जान गया हूँ। कुछ दिन नौकरी करके रुपया जमा करूँगा। फिर खुद इसका कारबार करूँगा। बड़ा लाभ होगा, तब तुमको भी बुला लूँगा।"

३

दो वर्ष बीत गए।

दिल्ली से मोती ने गाय और भैंसें मँगवाईं। देखते-देखते उसका भाग्य चमका। सफलता से घनिष्ठता हो चली। दूध-मक्खन और घी बेचता। उसकी आँखें खुल गईं। दानों के लिये तरसनेवाला मोती अब पैसे जोड़ने लगा।

अपने एक सम्बन्धी के साथ सोना भी बम्बई चली आई। मोती को अब रोटी का कष्ट न होता। बड़े सुख से

दोनों का समय बीतने लगा। मोती दिन-रात अपने काम में व्यस्त रहता; किन्तु सोना को शहर का जीवन पसन्द न आया। रुपयों के लोभ से उसे सन्तुष्ट रहना पड़ता।

दस वर्ष बीत गये।

साहब अपने देश चला गया। मोती ने उसकी डेरी खरीद ली थी। वह बड़ा व्यवसायी हो गया था। वह अब मोती से मोतीलाल हो गया। लेकिन, बम्बई के जल-वायु से वह बराबर अस्वस्थ रहता।

सोना ने एक दिन कहा—तुम दिन-पर-दिन दुबले होते जा रहे हो। अब यहाँ अच्छा भी नहीं लगता। ईश्वर ने बहुत धन दे दिया। चलो अब घर चलें; खेती करेंगे; यहाँ के इस जीवन में कोई सुख नहीं मालूम होता।"

सोना की इस बात पर मोती कभी-कभी विचार करता।

उसके मन में भी बात जम गई। एक दिन उसने भी कहा—चलो, अब यहाँ नहीं रहूँगा। बहुत धन लेकर क्या करना है? सचमुच वे दिन कितने अच्छे थे, जब दिन-भर खेत पर काम करके सन्ध्या समय अपनी झोपड़ी पर लौटते थे। वह तो अब सपना हो गया!

कुछ दिन के बाद मोती ने अपना कारबार बन्द कर दिया। एक सेठ के हाथ सब बेचकर रुपये एकत्र कर लिये !

सोना ने पूछा—कुल कितना है ?

मोती ने कहा—एक लाख से कुछ अधिक !

सोना पुतली की तरह मोती की ओर देखने लगी।

उसी दिन दोनों चल पड़े।

४

बड़ी सरस सन्ध्या थी। एक युग के बाद मोती घर लौट आया था। उसके खँडहर पर अब एक सुन्दर मकान बन रहा था। बड़ा परिवर्त्तन हो गया था। पैसे का प्रभाव था, गाँव के लोग मोती को घेरे बैठे थे। वह अपना वृत्तान्त सुना रहा था। उन्हीं लोगों की बातचीत से मोती को मालूम हुआ कि ज़मींदार पतन के मार्ग की सीमा पर पहुँच गया है।

लाली को देखकर मोती दुखी हुआ। वह बूढ़ी हो गई थी। अब दूध नहीं देती थी। उसकी ठठरियाँ निकल आई थीं। मोती उसी दिन बूढ़े ब्राह्मण को रुपयों से प्रसन्न कर लाली को अपने यहाँ ले आया।

आज गाँव की नीलामी थी। ज़मींदार की छावनी

पर डुग्गी बज रही थी। बड़े-बड़े महाजन एकत्र हुए थे। विलासिता के पर्दे में छिपा हुआ ज़मींदार अपना नग्न दृश्य देख रहा था।

मोती को भी समाचार मिला। वह बड़ा उदास था। नोट का बंडल बाँधकर वह निकला। सोना ने समझा, मोती नीलाम में गाँव खरीदेगा। गाँव के लोग भी इसका पहले से अनुमान कर रहे थे।

मोती नीलाम की बोली सुन रहा था। पूर्व काल के भयानक दिन उसकी आँखों के सामने फिर गये। इसका हृदय काँपने लगा। सामने ही जमींदार आँखें नीची किये बैठा था। मोती अपनेको सँभाल न सका, उसने तत्काल जमींदार के चरणों पर नोटों का बंडल रखते हुए कहा—मैं यह दुःख भोग चुका हूँ। भगवान न करे, किसीको यह दिन देखना पड़े। लीजिये, इससे अपना गाँव बचा लीजिये। इसी तरह मेरा दिन भी न बदलता। आपके कारण ही आज मैं रुपयों को जोड़ सका हूँ। अतएव यह आपका ही है।

जमींदार आश्चर्य से उसे देखने लगा।



अन्धकार

पड़ोस में प्रायः सभी उसके स्वभाव से अप्रसन्न रहा करते थे। उसके आसपास के मकानवाले तो उसके रहन-सहन से घबरा उठे थे। कोई उसे चुड़ैल कहकर मन-ही-मन पचास गालियाँ देता, कोई उसके चरित्र पर टीका-टिप्पणी जड़ देता। जिस दिन सबेरे कोई उसका मुँह देख लेता, उस दिन उसे यही चिन्ता लग जाती कि भगवान, आज का दिन कैसा कटेगा! उसके प्रति न-जाने क्यों लोगों की ऐसी धारणा थी।

वह विधवा थी; मगर सदैव सौभाग्यवती है; क्योंकि

उसने अपने हाथों की चूड़ियाँ नहीं तोड़ी थीं। उसके दो-मंजिले मकान के सामने एक बूढ़े मुंशीजी रहते हैं। उन्हें उसका किस्सा कंठस्थ है। वह बड़े जिन्दा-दिल हैं। उन्होंने उसका नाम 'द्रोपदी' रक्खा है। वह उसकी जवानी की कहानी बड़े शौक से कहा करते—

"इसके पति का नाम था—मुरलीमनोहर! वह बेचारा बड़ा सीधा और बहुत ही मिलनसार आदमी था। जब देखता, तभी सलाम करता। किसीसे मेल-जोल नहीं रखता था, अपने काम से काम! खूबसूरत जवान था, गोरा बदन, लम्बा क़द! उसकी आँखें सदैव झुकी रहती थीं। उसकी कपड़े की दुकान थी, दिन-भर मेहनत करता, चार पैसे पैदा करता था। अच्छे कुल में पैदा हुआ था, अपनी मर्यादा बनाए रखता था; मगर उसका भाग्य फूटा था जो ऐसी कुलच्छणा स्त्री मिली! इसकी चाल उसे पसन्द न थी।

"ईश्वर ने सब कुछ दिया था; मगर वह सुखी न था। इसको वह किसी बात की तकलीफ़ न होने देता; लेकिन इसका मिजाज हमेशा आसमान पर चढ़ा रहता। ऐसी विचित्र यह स्त्री है!

"द्रौपदी-महारानी को लड़के की बड़ी साध थी! बड़ा जन्त्र-मन्त्र हुआ, मन्नतें मानी गईं। इन सबका नतीजा कुछ न हुआ!

"इसके बहुत रोने-गाने पर मुरलीमनोहर ने एक लड़का गोद लिया। उसका नाम 'जीवन' रक्खा गया।

"अन्त में एक दिन की बीमारी में मुरलीमनोहर चल बसा। उसके मरते ही इसने अपना पंख फैलाया। जब तक वह जीता था, तब तक बराबर इसको पर्दे में रखता था। ओह! उसके उठ जाने पर तो इसने अपना मुँह खोल दिया। अब इसे किसीकी लज्जा नहीं। अपने घर में दो-चार किरायेदार बसाये हैं। सबसे लड़ती-झगड़ती है। तड़ा-तड़ जवाब देती है।"

इतना कहकर मुंशीजी कहते—"ईश्वर ऐसी स्त्री किसी-को न दे!"

"आँ...आँ...आँ"

"बोल, फिर ऐसा करेगा?"

धमाधम! 'जीवन' की पूजा हो रही थी।

"अरे जान निकली...आः!"

"मैं पूछती हूँ, फिर जवाब देगा ? बोल !"

"नहीं, हाथ जोड़ता हूँ, बस।"

पास के मकान में एक स्त्री को कुछ तरस आया, उसने पुकारकर कहा—"ओ जीवन की माँ, अरे जाने दो, लड़का है। अब न मारो।"

तड़पकर जीवन की माँ ने उत्तर दिया—"चुप रहो, तुमसे क्या मतलब ? पढ़ेगा-लिखेगा नहीं, बात का जवाब देगा! मैं तो इसके लिये बरबाद हो गई, पढ़ाई का खर्च और मास्टरों का वेतन देते-देते नाकों दम हो गया, और यह कुछ पढ़ता ही नहीं।"

सहानुभूति प्रकट करनेवाली स्त्री चुप हो गई। उसने मन में कहा—"मुझसे क्या सम्बन्ध, बैठे-बिठाए झगड़ा कौन मोल ले ?"

१२ वर्ष का बालक जीवन दिन-भर परिश्रम करता। इतनी छोटी-सी अवस्था में वह स्कूल की सातवीं कक्षा में पढ़ता था। अध्यापक उससे बड़े प्रसन्न रहते। उसे होन-हार समझकर सब उससे स्नेह रखते, मगर श्रीमतीजी उसकी पढ़ाई से सदैव असंतुष्ट रहतीं। जीवन के गरीब माँ-बाप को पाँच सौ रुपये देकर उन्होंने उसे खरीदा था, उसे

गोद लिया था, अपना लड़का बनाया था। अपनी सब सम्पत्ति उसके नाम लिखकर, उसे पढ़ा-लिखाकर, अन्त में एक दिन उसे ऊँची अफसरी की कुर्सी पर बैठे हुए देखना ही उनकी एकमात्र अभिलाषा थी। उस अभिलाषा में उनका यश, मान और कीर्ति, सभी कुछ था।

प्रतिदिन जीवन की पढ़ाई के सम्बन्ध में वह उससे पूछती—आज क्या पढ़ा? वह अपने सामने बैठाकर उसे पढ़ते हुए देखती। उसकी आत्मा खिल उठती।

एक साधारण अपराध के लिए वह कठोर-से-कठोर दंड उसे देती थी। जीवन में किसी तरह की त्रुटि वह नहीं देखना चाहती थी। वह उसे घर के बाहर न निकलने देती, लड़कों के साथ खेलना भी मना था!

जब कभी वह अपने सम्बन्धियों के यहाँ जाती, तो उसके वार्तालाप का विषय जीवन की पढ़ाई ही रहती। वह प्रायः लोगों से उसकी निन्दा करती; कहती—"लड़का बड़ा दुष्ट है। मेरे कहने में नहीं रहता, आगे चलकर न-जाने कैसा निकलेगा!"

किन्तु उसकी ऐसी-ऐसी बातों के सुननेवाले केवल मन-ही-मन मुस्कुरा देते थे।

मनोविज्ञान के आचार्यों को भी उसके दिल की बातें समझने में एक बार भ्रम हो सकता है। कभी वह जीवन को खूब पीटती और कभी उसके चुप हो जाने के बाद स्वयं फूटकर रोने लगती, उसे गले से लगा लेती, चूम लेती, हँस देती। ऐसी थी विचित्र वह स्त्री!

वह झगड़ालू प्रकृति की थी। कभी-कभी दूसरों का गुस्सा वह जीवन पर उतारती थी। किसीसे उसकी न बनती। कोई उससे जलता और कोई घृणा करता। ऐसी स्थिति में केवल जीवन ही उसके जीवन का एकमात्र अवलम्ब था।

सावन की अँधेरी रात थी। काले बादलों ने आकाश को बड़ा ही भयानक बना डाला था। वायु के झोंके से वृक्षों की खड़खड़ाहट का कैसा डरावना स्वर मालूम पड़ता था! ऐसे समय किसीका चीत्कार सुनाई पड़ा—

"हाय, मैं तो लुट गई—आ·····ह"

इधर-उधर कुछ लोग अपनी खिड़कियों पर दिखाई दिये, वे आश्चर्य से सुनने लगे।

"अरे मेरा जी··व··न, अरे मेरा लाल! तू कहाँ गया रे? ओह! मैं नहीं जानती थी कि मेरा जीवन मुझे धोखा देकर चला जायगा। हाय रे, अब मैं क्या करूँ?"

उसके भाग्य की कुञ्जी खो गई थी। बहुत देर रोने-पीटने के बाद, घर से शव निकाला गया। वह लस्त-पस्त, झूमती-चिल्लाती उसके साथ चली। दो स्त्रियाँ उसे सम्हाले हुए थीं। उस निचाट रात में उसने देखा—जीवन के सूने मार्ग पर चारों ओर अन्धकार छा गया है।

लेकिन, बूढ़े मुंशीजी को यह कोलाहल बड़ा नीरस प्रतीत हुआ। उनकी नींद खुल गई थी। लैम्प जलाकर वह अपनी बैठक में न-जाने किससे कह रहे थे—जब तक जीता था, गालियाँ मिलती थीं, मार पड़ती थी, कभी सुखी न था। अब चल बसा तो उसका गुण-गान हो रहा है, उसके लिए छाती पिट रही है! वाह री दुनिया, धन्य है तू!



अपराध

काशी

५-१०-२७

प्रिय भाई केशव,

तुम्हारा पत्र दो मास से नहीं आया। मुझे दुःख है। कभी दो-चार लाइन तो लिख दिया करो! मैं जानता हूँ, तुम्हें अवकाश नहीं मिलता। तुम दिन-रात अपनी धुन में मस्त रहते हो, तुम्हारी सफलता का समाचार मुझे समाचारपत्रों से ज्ञात हो जाता है।

.विश्वास है, पत्र न लिखने पर भी तुम मुझे भूल नहीं

सकते। अब तुम दूसरे क्षेत्र में हो और मैं दूसरे! या यों कहना चाहिये कि तुम स्वतंत्र हो, और मैं परतंत्र।

तुम समाज से खुले मैदान लड़ रहे हो, यह तुम्हारा ही साहस है। मेरा तो गृहस्थी के बन्धन में पड़कर उत्साह ही जाता रहा। बैठा विचार किया करता हूँ—कट्टर हिन्दू-समाज में फूला-फला हूँ, उसकी बुराई जानते हुए भी कुछ नहीं कर सकता। एक दिन जूता पहनकर पानी पी लिया था, तो चार दिनों तक माँ बोली नहीं थीं। तुम्हीं कहो, घर में कलह करूँ या समाज से झगड़ा?

आजकल घर में स्त्रियाँ मुझसे अप्रसन्न हैं। मेरा अपराध यह है कि इधर मैंने 'मङ्गला' नाम की एक दासी को नियुक्त किया है। उसका क़िस्सा इस तरह है—एक दिन सन्ध्या-समय मैं बरामदे में बैठा हुआ एक पुस्तक पढ़ रहा था। गङ्गा ने आकर कहा—सरकार, एक औरत नौकरी के लिए आई है, उससे किसीने कह दिया है कि कोठी में एक दासी की ज़रूरत है।

मैंने कहा—तङ्ग न कर, इस समय पढ़ रहा हूँ।

उसकी ओर ध्यान न देकर मैं पढ़ने लगा। पुस्तक की तरफ से ध्यान हटा; मैंने देखा, वह चुपचाप खड़ी है।

मैंने समझा, इसमें कुछ रहस्य है। मैंने कहा—तू क्यों खड़ा है गङ्गा ?

उसने डरते हुए कहा—सरकार, वह बड़ी ग़रीब मालूम होती है, दो दिनों की भूखी है।

मैंने कहा—अच्छा, उसे यहाँ ले आ।

वह बड़ी प्रसन्नता से आगे बढ़ा। लौटकर आया, उसके पीछे वह स्त्री खड़ी हो गई। उसके मैले वस्त्र पुराने और कई जगह फटे हुए थे।

मैंने ध्यान से उसे देखा, उसका सौन्दर्य दरिद्रता से प्रणय-भिक्षा माँग रहा था। उसकी डबडबाई आँखें जैसे कुछ बातें कर रही हों। मैं समझ गया, इस स्त्री का करुण रूप ही गङ्गा की सहानुभूति का कारण हुआ है।

मैंने कहा—गंगा, यह नौकरी चाहती है, इसकी जमानत कौन करेगा ?

गंगा उस स्त्री की तरफ देखने लगा। स्त्री ने धीमे स्वर में कहा—मुझे इस शहर में कोई नहीं जानता। मैं अभागिनी हूँ, भूखी हूँ।

मैंने कहा—इस तरह मैं कैसे रख सकता हूँ, जिम्मेदारी का काम है।

मेरा उत्तर पाकर वह कुछ न बोली और जाने लगी। उसकी आशा का सूर्य अस्त होने जा रहा था।

मुझे कौतूहल हुआ। मैंने कहा—गंगा, उसे यहाँ ले आ। वह फिर आकर मौन खड़ी हो गई।

गंगा कहने लगा—सरकार, यह चोर नहीं मालूम पड़ती; भाग्य की सताई हुई है।

मैंने कहा—अच्छा, मैं इसे नौकरी देता हूँ। ज़नाने मकान में भेज दे।

उसकी निरीहता पर मुझे तरस आया और बिना किसी ज़मानत के मैंने उसे नियुक्त कर लिया।

बोलो केशव! ठीक किया या नहीं?

तुम्हारा—

'प्रभात'

२

काशी

१२-१०-२७

भाई केशव!

तुम्हारा पत्र मुझे कल मिला था। सब समाचार विदित हुए। तुमने लिखा है कि समाज में अभी ऐसी-ऐसी

पतिता और निरसहाय दरिद्र अबलाएँ हैं, जिनकी सहायता और उत्थान के नाम लेने से हिन्दू-समाज काटने दौड़ता है।

तुम्हारी इन पंक्तियों को पढ़कर मुझे प्रतीत हुआ, जैसे प्रत्यक्ष में तुम अपने स्वाभाविक जोशीले शब्दों में कह रहे हो—"निर्लज्ज समाज की बातों पर ध्यान देने से साफ़ दिखाई देता है कि पुरुष-जाति ने अपने सुख और अधिकार सुरक्षित रखने के लिए ही समाज के नियम बनाए हैं।" कोई पुरुष शराब पीता है, मांस खाता है, वेश्याओं की जूतियाँ साफ़ करता है और फिर घर में चुपचाप आकर रामानन्दी तिलक लगाकर बैठ जाता है। कोई उसपर ध्यान नहीं देता, और समाज देखकर भी उसका कुछ नहीं कर सकता। और, यदि किसी स्त्री से साधारण अपराध हो गया, तो तत्काल वह समाज से निकाल दी जायगी। मैं पूछता हूँ—वह क्या करेगी ? क्या पेट के लिए वेश्या होना अस्वाभाविक है ?

तुम्हारे वह स्वर अभी तक गूँज रहे हैं। मैं भूला नहीं हूँ। तुम्हारी बातों पर मैं खूब विचार करता हूँ।

तुम स्त्रियों को शिक्षित बनाना चाहते हो—राज-नीतिक परिस्थिति को समझाने के लिए, देश की दशा

पर आँसू बहाने के लिए, और अपनी सन्तान को साहसी और उद्योगी बनाने के लिए, न कि सुन्दर और साहित्यिक भाषा में प्रेम-पत्र लिखने के लिए !

ख़ैर, इन विषयों पर तुम्हीं विचार करो, मैं तो अपनी आत्मा से लड़ रहा हूँ। देखूँ, सफल होता हूँ या नहीं। विद्रोह का प्रारम्भ है।

हाँ, तुम्हें मैंने 'मंगला' के सम्बन्ध में कुछ लिखा था। उसकी नई ख़बर सुनो—घर में स्त्रियाँ कहती हैं कि जब से मङ्गला आई है, तब से कई सामान चोरी हो गए हैं। उसी-पर सबका सन्देह है। वह कभी कभी अकेली बैठकर रोती हुई पाई जाती है, इसपर भी लोग अप्रसन्न रहते हैं।

गङ्गा भी कई बार उसकी निन्दा कर चुका है। उसका तात्पर्य मैं समझ गया, मङ्गला को मैंने नौकरों के बीच अन्य दासियों की भाँति कभी हँसते-बोलते नहीं देखा है। हो सकता है, इसी लिए मङ्गला उसकी आँखों में खट-कती हो ?

अभी कल की बात है, मङ्गला मेरे बच्चे को खिला रही थी। मैंने बच्चे को बुलाते हुए मङ्गला से कहा—उसे यहाँ ले आ।

वह लेकर आई, बच्चा खेलने लगा। मङ्गला खड़ी थी। मैंने पूछा—मङ्गला, तुम्हारे बारे में बहुत-सी बातें सुनी जाती हैं।

बड़े साहस से उसने कहा—कौन-सी बात सरकार?

मैंने कहा—तू दिन-रात रोनी सूरत क्यों बनाए रहती है? अब तो तुझे कोई कष्ट नहीं है?

उसकी आँखें भर गईं। वह बच्चे को लेकर जाना चाहती थी। मैंने कहा—क्यों, ठीक है?

उसने अस्फुट शब्दों में कहा—हँसी कभी आती नहीं, इसी लिए नहीं हँसती। दुःख में रोना ही अच्छा लगता है।

मैंने कहा—तेरे दुःख का कारण? यहाँ तुझे कष्ट है क्या?

"मुझे कोई कष्ट नहीं है।"

"तब?"

"दूसरे के कष्ट के लिए रोती हूँ।"

मैं उसकी तरफ़ देखने लगा; उसने आँखें नीची कर लीं। उसी समय एक दासी ने पुकारा—मङ्गला, बच्चे को ले आ। मंगला चली गई। मैं फिर कुछ भी न पूछ सका।

केशव, मैं बहुत-से स्वभावों का अध्ययन कर चुका हूँ, मुझे किसीके चरित्र का अध्ययन करने में बड़ा आनन्द मिलता है; किन्तु मैं सच कहता हूँ, मंगला मुझे विचित्र मालूम पड़ती है।

मंगला के सम्बन्ध में अभी तक कुछ नहीं समझ सका हूँ। इतना अवश्य जानता हूँ कि वह दुःखी है, और सो भी अपने लिये नहीं।

अब पत्र समाप्त करता हूँ, फिर कभी लिखूँगा।

स्नेही—

'प्रभात'

२

काशी

२-११-२७

भैया केशव !

तुमने इस बार दो सप्ताह बाद मेरे पत्र का उत्तर दिया है। तुम बीमार थे, अब अच्छे हो गए, यह जानकर प्रसन्नता हुई।

तुम कब तक निराश प्रेमी की भाँति अपना जीवन व्यतीत करोगे ? पहले तुम कहा करते थे कि मैं सांसारिक

विलासमय प्रेम नहीं चाहता। मैं चाहता हूँ पवित्र गंगाजल की तरह निर्मल और शुद्ध प्रेम! अब देखता हूँ, तुम्हारी बातें सत्य हो रही हैं, और इसीलिए शायद तुम विवाह नहीं करते। क्यों, क्या अभी तक कोई मिला नहीं?

मैं तो भाई, प्रेम को नमस्कार करता हूँ। मैंने अपने जीवन में कभी स्वच्छ और पवित्र प्रेम देखा ही नहीं। वास्तव में यह सब कवि की कल्पना है और अभाव के समय रोने का बहाना है। इतना समझते हुए भी मैं कभी-कभी रोता हूँ, इसीलिए रोने का मर्म जानता हूँ। आह! रोने में भी कभी-कभी बड़ा मजा मिलता है—और ऐसे समय रोने में, जब आँसू पोंछनेवाला भी न हो। रहने दो, ऐसी बातें न लिखूँगा, उलटा तुम हँसी उड़ाओगे।

कलुषित वासनाओं से धुँधले आकाश में चाँदनी छिटकी है। मैं प्रेम-राज्य से निर्वासित हूँ! मैंने आँख भरकर प्रेम देखा नहीं है, जी भरकर उसके सङ्गीत को सुना भी नहीं; किन्तु उसके स्वर मेरे परिचित हैं। मैं उस दर्द को जानता हूँ, अतएव उन दर्दवालों के प्रति मेरी सहानुभूति अवश्य है।

मंगला के सम्बन्ध में कुछ लिखकर मैं तुम्हें बतलाता हूँ कि यह मुझे एक नवीन अनुभव हुआ है।

उस दिन अमावस्या की काली रात थी। बड़ा सन्नाटा था। मैं नौ बजे ही सो गया था। आधी रात को शोर हुआ, मैं उठकर बैठ गया। आश्चर्य और उत्सुकता से ध्यान लगाकर सुनने लगा, गंगा ज़ोर से कह रहा था—इसको खूब मारो।

मैं कमरे में शय्या से उठा और बाहर आकर देखने लगा—मेरे तीनों नौकरों ने किसी आदमी को पकड़ा है और उसे मार रहे हैं, उनके सामने मंगला खड़ी रो रही है।

मैंने डाँटते हुए कहा—मूर्खो! तुम लोग क्या कर रहे हो? इतना शोर क्यों मचाया है? बात क्या है? वह कौन है?

उन सबने उस आदमी को पकड़कर मेरे सामने खड़ा कर दिया। मंगला को मेरे सामने आने का साहस न हुआ, वह दूर खड़ी थी।

नौकरों में से गंगा एक साँस में कहता गया—हुजूर, इसने चोरी की है, इसे थाने में भेजना चाहिए। साला बड़ा होशियार है। यही कई बार कोठी का सामान इसी तरह ले गया है।

मैंने कहा—इसने क्या चुराया है ? कैसे चुराया है ?

गंगा ने सामने एक कम्बल और कुछ कपड़े दिखलाते हुए कहा—इसे ऊपर की खिड़की से मंगला ने फेंका था। मुझे इसकी आहट लग गई थी। मैं उस समय जागता रहा, इसने सलाई बाली थी। ऊपर से धम-से कोई चीज नीचे गिरी। मैंने सचेत होकर द्वार खोला, यह भाग रहा था, मैंने इसे पकड़ा है।

मैंने घूमकर देखा, वह थरथर काँप रहा था; हाथ जोड़कर दया-याचना करने लगा।

मैंने आश्चर्य से कहा—क्या मंगला ने फेंका था ?

सब नौकरों ने एक स्वर में कहा—हाँ सरकार, उसीने फेंका था।

अपराधी की तरह मंगला मेरे सामने आ गई और बड़े साहस से उसने कहा—अपराध मेरा है। मैंने ऊपर से फेंका था, इन्होंने इसे लिया, यह निर्दोष हैं।

लम्प के प्रकाश में मैंने देखा—मंगला की आँखों में बिजली चमक रही थी। वह दरिद्र पुरुष मंगला की तरफ़ देख रहा था; वह अत्यन्त दुर्बल था, आँखें धँसी थीं, बड़ा डरावना मालूम पड़ता था!

मैंने पूछा—मंगला ने तुझे क्यों दिया ? वह तेरी कौन है ?

वह चुप था। मैंने फिर कहा—बोल ! बताता क्यों नहीं ?

उसने कहा—मैं इसीके लिए जीता हूँ, यह मुझे मरने नहीं देती।

रात्रि के दो बज रहे थे। मैं कुर्सी पर बैठकर विचार करने लगा—इन दोनों का प्रेम है, तभी मंगला ने इसके लिए अपराध किया है। ये लोग दरिद्र हैं; किन्तु इनके पास भी हृदय है। ये प्रेम करना जानते हैं। एक के लिए दूसरा अपना सर्वनाश करने के लिए प्रस्तुत है। अभाव और दरिद्रता ने ही मंगला को चोरी करने के लिए बाध्य किया है।

मैंने कहा—मंगला, यदि तू सच-सच सब हाल बता दे तो मैं तुझे छोड़ दूँगा, तूने इसके लिए क्यों चोरी की ?

उसने सलज्ज करुण स्वर में कहा—हम और यह भाग-कर अपने देश से चले आए हैं। यह मेरे पति हैं। बहुत दिनों तक नौकरी करते रहे; किन्तु यह नौकरी भी न कर

सके, मेरे पास दिन-रात बैठे रहने में ही यह अपना सब कुछ खो बैठे। इनसे नौकरी होती नहीं और अब कहीं मिलती भी नहीं। इसलिए मैं ही नौकरी करती हूँ। मेरा पेट तो यहाँ भर जाता है, पर इनके लिए चोरी करनी पड़ती है।

मैंने कहा—और कुछ ?

उसने कहा—इतना ही मेरा अपराध है।

उसकी बातों का मुझपर बड़ा प्रभाव पड़ा। मैंने कहा—मैं तुम्हें क्षमा करता हूँ।

वह आदमी मेरी तरफ़ आश्चर्य से देखते हुए मेरे पैरों पर गिर पड़ा !

मैंने फिर कहा—अब तुम लोग क्या करोगे ? कहाँ जाओगे ?

मेरे नौकर आश्चर्य से एक दूसरे की ओर देखने लगे। उसने कहा—संसार में कहीं स्थान नहीं है, कहाँ जाऊँगा ?

मंगला को विश्वास था कि अपराध क्षमा करते हुए भी अब मैं उसे अपने यहाँ स्थान नहीं दूँगा।

मैंने कहा—तुम घबराओ नहीं, मंगला को मैं निकालूँगा नहीं। तुम भी यदि नौकरी करना चाहो, तो मेरे यहाँ रह सकते हो।

वह कुछ बोल न सका, फूट-फूटकर रोने लगा।

उस दिन से दोनों मेरे यहाँ बड़े आनन्द से रहते हैं, और सब लोगों को इससे बड़ा असन्तोष है। उनको खटका लगा रहता है; पर मैं निश्चिन्त हूँ कि अब वे चोरी नहीं करेंगे।

तुम्हारी क्या सम्मति है? क्या मैंने भूल की?

तुम्हारा—

'प्रभात'



सुख

१

उत्तरदायित्व-हीन श्यामलाल की गणना वैसे लोगों में होनी चाहिए, जो बुद्धिमान् होने पर भी अपने स्वभाव की दुर्बलता के कारण पदच्युत हो जाते हैं। जब तक वह घर में रहते, अपनी स्त्री के आगे सिर न उठा सकते थे। उस सती के सामने वह अपनेको अत्यन्त नीच समझते थे। परन्तु घर के बाहर होते ही वह अपने मित्रों के अनुरोध को भी नहीं टाल सकते थे।

एक दिन, उनकी स्त्री उनका तिरस्कार कर, अपने को

वर्ष के बच्चे को लेकर अपने बाप के घर चली गई। उन्होंने चुपचाप वह तिरस्कार सह लिया। सुख की लालसा ने उन्हें विपथ की ही ओर खींचा था। परन्तु उन्हें तृप्ति न हुई।

वह मखमली विस्तरे पर लेटे थे। लेटे-लेटे उनके सम्मुख अतीत के सभी दृश्य फिर गये। वह विचार करने लगे—इतना सुख उठाया, मोटर-फिटन पर घूम चुका, तरह-तरह के थियेटर देख चुका, तरह-तरह की सुन्दरियों का छवि-पान कर चुका; पर सुख फिर भी क्यों नहीं मिलता ? मेरा मन चिन्तित क्यों रहता है ?

वह आलमारी में रक्खी हुई शराब की खाली बोतलों और अतर की छूछी शीशियों की तरफ देखते, और कभी कमरे की सजावट को सतृष्ण नेत्रों से देखते रह जाते ! किन्तु यह सब आज उन्हें दूसरे ही रूप में दिखाई पड़ते। मानों सब कह रहे थे—मेरी ही तरह तुम्हारे सुख के दिन भी खाली हो रहे हैं।

२

नीलाकाश में मेघों से छिपा हुआ चन्द्रमा निकल पड़ता है; चकोर उसकी प्रतीक्षा करता है, भ्रमर फूलों का रस लेता है, पतंग दीपक का आलिंगन करता है। उसी

तरह मानव की तरुण अवस्था में प्रेम-तंत्री बज उठती है। उसकी झंकृति व्याकुल हो जाती है। वह हृदय को अनमना कर देती है और मनुष्य को पागल बनाकर सैकड़ों राहों में घुमा देती है।

प्रेम-तंत्री की झंकृति में एक नशा है। इस नशे के आवेश में मनुष्य सौन्दर्य और विलास का इच्छुक बन जाता है; पर जब यह नशा समुद्र की लहरों की तरह पीछे की तरफ़ हट जाता है, तब उसके वास्तविक रूप का ज्ञान होता है।

वही नशा श्यामलाल को भी चढ़ा था। उस समय उनके नेत्रों के सम्मुख अन्धकार का एक पर्दा पड़ गया था। वह सब कुछ भूल गये—खुद अपनेको भी भूल गये।

किन्तु अब अभिनय समाप्त होनेवाला था—आखिरी पर्दा गिरने में थोड़ी ही देर थी।

देखते-देखते कई मास बीत गये। श्यामलाल को उनका घर अब काटने दौड़ता था। दिन-भर एकान्त में बैठे-बैठे कुछ सोचा करते। उनकी तबीयत उदास रहा करती। अब उनसे कोई बात करनेवाला भी न था।

उनकी सब जायदाद बिक चुकी थी, केवल कोठी रह

गई थी, तिसपर भी कर्जदारों के कड़े तकाजे सुनने पड़ते थे। नौकर-चाकर चले गये, रह गया बेचारा एक 'बुधुआ' !

२

चिन्ता और स्मृतियों ने श्यामलाल के हृदय में अपना घर बना लिया। उन्होंने अपना घर-बार छोड़कर निर्जन वन-प्रान्त की राह ली।

प्रभात का समय था। सूर्य आकाश में ऊपर उठ रहे थे। सूर्य की किरणें गंगा की इठलाती हुई लहरों का आलिंगन कर रही थीं। कभी-कभी शीतल मलय-पवन का एक झोंका शरीर को स्पर्श करता हुआ चला जाता था। दूर पहाड़ों की एक कतार दिखलाई देती थी। वह उसी स्थान पर खड़े हुए प्रकृति की अपूर्व शोभा देख रहे थे।

उन्होंने अपने अन्तःपटल पर पूर्व-काल की स्मृति का एक रेखा-चित्र देखा। वह दुखी हो गये। अपने दुख के भीतर उनकी अन्तरात्मा किसीके प्रेम को छिपाये हुई थी ; परन्तु वह नहीं जानती थी कि किसे प्यार करती है, और अब भी कौन उसका सच्चा प्रणय-पात्र है ; कभी-कभी वह पत्थरों और चट्टानों को सम्बोधन करके पूछती—तुम

कौन हो ? एक नीरव संकेत में उत्तर मिलता—हम लोग भी उसी श्रेणी के जीव हैं, जिस श्रेणी के तुम।

उस समय आकाश के सैकड़ों तारे, चन्द्रमा और सूर्य भी चुपचाप मानों इसी उत्तर का समर्थन कर रहे थे।

मेघों की झड़ी, गंगा की सिकता, पृथ्वी की धूल, वृक्षों की पत्तियाँ, पक्षियों की कलध्वनि और मन की विचार-मालाएँ साफ-साफ कहती थीं—जो तुम चाहते हो, हम लोग वह नहीं हैं। जाओ, दूसरी जगह अपनी चाह की वस्तु खोजो।

तरह-तरह के सुन्दर दृश्य देखने, चिन्ता और विचार करने में एक मास बीत गया; पर सुख का पता न चला। उन्होंने सोचा था—जंगलों में भ्रमण करूँगा, तरह-तरह के दृश्य देखूँगा और प्राकृतिक सौन्दर्य की उपासना में अपना सारा जीवन व्यतीत करूँगा। पर एक ही मास में वह चारों तरफ से ऊब गये। एक निराश प्रेमी को जिस प्रकार संसार सूना लगता है, उसी प्रकार उनको भी संसार से घृणा हो गई। संसार ने जब उन्हें ठोकर लगाई, तब ईश्वर में उनकी भक्ति उत्पन्न हुई। उनके विचारों की समाधि लग गई।

कुछ देर बाद उन्होंने फिरकर देखा—पास ही एक स्वामीजी गंगा-तट पर बैठे और माला फेरते हुए बार-बार उनकी तरफ़ देख रहे हैं। स्वामीजी के नेत्रों से उनके प्रति सहानुभूति प्रकट हो रही थी।

थोड़ी देर बाद स्वामीजी ने कहा—किस चिन्ता में पड़े हो बचा?

कुछ नहीं महाराज, मैं संसार-रूपी नाटक-गृह से, अभिनय के उपयुक्त पात्र न होने के कारण, निकाल दिया गया हूँ।

स्वामीजी—एक दिन तो सभी निकाले जाते हैं, किंतु जो समय रहते स्वयं निकल जाय, वह सम्मानपूर्वक निकलता है। भगवान् की शरण में जाओ, वहीं शान्ति मिलेगी।

श्यामलाल—उसीकी आशा है। देखूँ, अपनी शरण में लेते हैं या नहीं। मुझे तो सन्देह है।

स्वामी—संसार के वातावरण में सन्देह ही है, उसकी छाया से हटो, शान्ति निश्चय मिलेगी।

श्यामलाल—तुम महात्माजी, आप ही दया कीजिये।

स्वामी—तुम स्वय इसके लिए प्रस्तुत हो जाओ।

श्यामलाल ने स्वामीजी के चरणों में सिर रक्खा, और वस्त्र उतारकर दीक्षा लेने की तैयारी में लगे। दो-एक धर्माधिकारी भी जुट गये। उपकरण प्रस्तुत हो गया। श्यामलाल का सिर मूँड़ने में एक क्षण की देर थी।

उसी घाट पर सीढ़ियों में दुबकी बैठी हुई एक स्त्री बड़ी देर से यह कांड देख रही थी! अब वह आकर स्वामीजी के पास खड़ी हो गई। बोली—आप यह क्या कर रहे हैं? क्या संसार-भर को भिक्षुक बनाकर आप पुण्य कर रहे हैं? जो कायर मनुष्य स्वयं जिम्मेदारी उठाने में असमर्थ हैं, उनके बोझ आप दूसरों से उठवाना चाहते हैं? क्या आपको मालूम है कि इनके पुत्र और स्त्री भी हैं, जिनकी संसार-यात्रा का इन्होंने कुछ भी प्रबन्ध नहीं किया है!

स्वामीजी तेजस्विनी रमणी की इस फटकार को सुनकर सहम गये। उन्होंने श्यामलाल से पूछा—क्यों, तुम्हारे स्त्री और पुत्र भी हैं?

श्यामलाल ने सिर उठाकर कुन्ती की ओर देखा। उसकी दृष्टि में संकोच और दीनता थी।

कुन्ती ने उसी साहस से कहा—उठिये नाथ, चलिये

संसार में। क्या धन ही सब सुखों की जड़ है? विलासिता से न रहकर हम लोग एक दूसरे के सहारे मनुष्योचित जीवन व्यतीत कर सकते हैं।

तुम सुख की खोज खूब कर चुके, अब तुम्हें मेरे साथ दुःख की भी खोज करनी होगी। देखो तो, इसमें भी कुछ सुख मिलता है!—यह कहकर उसने श्यामलाल का हाथ पकड़ा, और कोठी की ओर ले चली।

श्यामलाल अब एक साधारण गृहस्थ हैं। वैभव नहीं है, परन्तु तृप्ति है। अब उन्हें सुख की खोज नहीं करनी पड़ती।



कहानी-लेखक

१

ये बादल आज कितने नीरस मालूम पड़ते हैं। आज इन्हें देखकर तरस आता है—हृदय में धड़कन होने लगती है—दम घुटने लगता है, और कुछ देर रोने की इच्छा होती है।

मैंने देखा, इतना कहते-कहते सचमुच उसकी आँखें डबडबा आईं—मुँह पर एक पीली रेखा दौड़ गई। वह चुप हो गया। मैं उसकी तरफ़ ध्यान से देखने लगा। वह मेरा मित्र था। उससे मेरी खूब पटती थी।

वह, विचारों की समाधि से अलग होते हुए, चौकन्ना होकर कहने लगा—क्या कहा ? कहानी-लेखक ! नहीं भाई, मैं कहानी-लेखक नहीं हो सकता। मैं स्वयं कहानी हूँ। मेरी कहानी में प्रलय की भीषण ज्वाला है, जिसमें मैं स्वयं जल रहा हूँ। उसे दूसरा कौन सुनेगा ? सुनकर वह भी जलेगा। इससे लाभ ? संसार में सुख का उन्माद-रोग फैला है। दवा करने से वह बढ़ता ही जाता है। ये मंद-मंद शीतल पवन, वर्षा के मृदुल झकोरे और काले-काले बादल उसी रोग को एक बार फिर से जगा-जगाकर थपकियाँ देते हैं। जानते हो, इनमें स्मृति की करुण पुकार छिपी हुई है ! प्रति वर्ष ये आकर आँसू बहा जाते हैं, सचेत कर जाते हैं।

मुझपर उसका बड़ा स्नेह था; किन्तु उसके स्वभाव को मैं अभी तक समझ नहीं सकता था। उसने अपने जीवन की अनेक घटनाओं का वर्णन किया था। आज भी कुछ कहना चाहता था, यह मैं भली भाँति समझ गया। उसके भावों की तरल तरंगें उठ-उठकर कहती थीं—आज हम और कुछ कहेंगी।

मैं ध्यान से उसकी तरफ देख रहा था। उसने बड़ी

कातर वाणी में कहा—माँ कहती हैं, बेटा, विवाह कर ले, मुझसे अब काम नहीं होता, मेरे बाद तेरी कौन खबर लेगा। किन्तु, मेरे हृदय की व्यथा को वह क्या समझेंगी! अगर समझती भी हैं तो अपने बाद मुझे भी सांसारिक बन्धन में बाँधकर जाना चाहती हैं। नारी-हृदय है, कोमल है, स्वच्छ है। वह मुझे हरा-भरा देखना चाहती हैं; किन्तु मेरे भाग्य में ही न था, अब क्या होगा! जानते हो, आकाश की गड़गड़ाहट कुछ संदेश कह जाती है। उसे मैं समझ नहीं सकता। सरला का छाया-चित्र एक बार बिजली की चमक के साथ दिखलाई देकर लुप्त हो जाता है। आह, बड़ा अभागा हूँ!

इतना कहकर वह आकाश की ओर उन्मत्त दृष्टि से देखने लगा। उसकी सूरत डरावनी-सी हो गई। वह पागल की तरह फिर कहने लगा—इन्हीं हाथों से अपने पिता की चिता में आग लगा चुका हूँ—अपने नन्हे-से बच्चे के शव को......क्या वह दृश्य भूलेगा......सरला की गोद में से छीनकर गंगा में बहा आया! वह विलाप करती थी, चीत्कार करती थी, और मैं कठोर-हृदय सब देखता ही रहा! मैं उसे भूलने की चेष्टा करने लगा। किन्तु वह उसे न भूल

सकी। वह रसोई-घर में भोजन बनाते समय भी रोया करती थी। मैं उसे बहुत समझाता; किन्तु उसकी आँखें दो बूँद आँसू बहाकर ही इसका उत्तर देती थीं। उसकी अवस्था दिन-दिन खराब होने लगी। वह बीमार ही रहने लगी। मैं उसे बहलाने की बड़ी चेष्टा करता; किन्तु सफल न होता। एक दिन उसने कहा—देखो, मेरा लाल मुझे बुला रहा है, वह मुझसे अलग नहीं हो सकता, मैं जाऊँगी। बस, रोग असाध्य हो चला। कई दिनों बाद, इन्हीं हाथों उसकी भी चिता बनाई! उसपर उसके शव को अनन्त-काल के लिए सुलाया, और इन्हीं हाथों से उसमें आग लगाया—घी और राल डाल-डालकर उसे धधकाया! इन्हीं हाथों से कभी उसके बँधे हुए केशों में फूलों की माला सजाता था, प्यार से उसके गुलाबी कपोलों पर थपकियाँ देता था और उसका मुखचंद्र देखता ही रह जाता था। किंतु नहीं, वे दिन चले गये थे! अब ये ही हाथ उसकी कपाल-क्रिया के लिए प्रस्तुत हो गये! उस दिन भी बादल आकर गरज उठे थे—मेरी इस दशा को देखकर चिता पर अविरल गति से आँसू बहा रहे थे। उस समय मैं जीवन के रहस्यों पर विचार कर रहा था। चिता की लपटों में

जैसे उसकी आत्मा छिपी हुई कहती—नहीं, मुझे न छेड़ो, जाने दो। हाय! इस घटना को भी कई वर्ष हो गये। ध्यान आने पर मालूम पड़ता है, अभी कल की घटना है। तब से मैं यही विचार करता हूँ—क्या करूँ। केवल ये ही प्रश्नवाचक दो शब्द बार-बार मर्मस्थल पर अङ्कित हो जाते हैं।

उसका यह रोमांचकारी वर्णन सुनकर स्वयं मैं भी कुछ देर के लिए दुखी हो रहा था। उसकी वाणी में दर्द था। बातों को बदलने और उसे बहलाने के लिए मैंने कहा—तुम्हारी कहानी बहुत कम लोग पसंद करेंगे। कारण, वह सुखांत नहीं है और 'प्लाट' में भी कौतूहल नहीं है।

उसने कहा—रहने दो, मुझे माफ करो; तुम जाओ, मैं कुछ देर के लिए एकान्त चाहता हूँ। किसीका दिल जले, किसीको कहानी सूझे!

मैं उसे छोड़कर घर में चला गया। उसकी वृद्धा माँ रसोई बना रही थीं। मैंने उन्हें प्रणाम किया! उन्होंने मुझे आशीर्वाद देते हुए मेरे बैठने के लिए एक पटरा रख दिया। मैं बैठ गया।

रसोई-घर में बर्त्तन भी नहीं दिखाई देते थे। एक मैली-सी धोती पहने—जो कई स्थान पर फटी और सिली हुई थी—वह भोजन बना रही थीं। मैंने पूछा—माँ, क्या बना रही हो?

उन्होंने कहा—खिचड़ी बना रही हूँ; किसी तरह दिन कट रहा है बेटा। घर का सब सामान बिक चुका है, अब कुछ नहीं बचा है—यही एक टूटा मकान बाकी है।

मैं चुप था। कारण, मैं उनकी आर्थिक स्थिति को जानता था। आय की कोई व्यवस्था न थी। खर्च-ही-खर्च था।

उन्होंने एक आह भरते हुए फिर कहा—रामेश्वर मेरे कहने में नहीं है। कुछ करता नहीं। दिन-रात उदास घर में बैठा रहता है। इस तरह कितने दिन और कटेंगे? उसका कोमल हृदय है, इसलिए मैं कुछ कहती नहीं। कई बार समझाया कि बेटा, जो बातें बीत चुकी हैं, उन्हें याद करने से क्या लाभ। संसार का यही नियम है। यहाँ रह-कर उसीके अनुसार कार्य करना मनुष्यता है। किन्तु उसकी समझ में कुछ नहीं आता। अधिक कुछ कहती हूँ, तो रो देता है।

मैं कुछ देर सुनता रहा। इसके बाद, उस दिन मैं चला आया। दूसरे दिन फिर गया। मेरा मित्र रामेश्वर पुस्तक पढ़ रहा था। उसे अध्ययन का व्यसन था। पहली बार एक पुस्तकालय में ही मेरी-उसकी भेंट हुई थी, उसी दिन परिचय हुआ था। तब से घनिष्ठता बढ़ती ही गई। अब उससे मेरी पूरी अभिन्नता है।

मैंने कहा—रामेश्वर, कल की तुम्हारी कहानी ने रात-भर मुझे सोने न दिया। मैं उसीपर विचार करता रहा।

उसने मुस्कुराते हुए पूछा, क्या विचार करते थे?

मैंने कहा—यही कि अभ्यास करने पर तुम सफल कहानी-लेखक होगे।

अनमना होकर उसने कहा—तुम पागल हो। मैं क्या कहानी लिखूँगा।

मैंने कहा—नहीं रामेश्वर, मेरे अनुरोध से तुम कल वाली घटना पर एक कहानी लिख डालो। यह मुझे अत्यंत प्रिय है।

उसने कहा—मेरी भाषा में ज़ोर नहीं है। मैं अपने भावों को व्यक्त नहीं कर सकता।

मैंने कहा—तुम्हारे हृदय से निकले हुए भाव स्वयं अपनी भाषा बना लेंगे। तुम्हें मेरी शपथ, वह कहानी लिख डालो।

२

कई दिन बीत गये। मैं कई कार्यों में व्यस्त था; रामेश्वर से मिल न सका। एक दिन मैंने बरामदे में से देखा, वही मुझे पुकार रहा है। मैंने ऊपर से ही कहा—अभी आया भाई, नीचे के कमरे में बैठ जाओ।

मैंने देखा, उसके हाथ में कागज के कुछ टुकड़े थे। मुझे देखते ही उसने कहा—देखो, मैंने कहानी लिख डाली है।

मैं उसे कमरे में बैठकर पढ़ने लगा। वास्तव में बड़ी खूबी के साथ उसने कहानी लिखी थी। उसी दिन मैंने कहानी को अपने एक परिचित सम्पादक के पास भेज दिया।

. कई दिन बाद उत्तर आया। सम्पादकजी कहानी पर मुग्ध हो गये थे। उन्होंने अनेक धन्यवाद दिया था। मैंने रामेश्वर के हाथ में पत्र दे दिया। उसके मुख पर प्रसन्नता की एक झलक दिखाई पड़ी। फिर मैंने उसके उत्साह को बढ़ाते हुए और भी कहानियाँ लिखने के लिए कहा।

मैं जानता था कि कहानी लिखने का चस्का बड़ा विचित्र

होता है। यह संसार के किसी नशे से कम नहीं है। किंतु बात केवल इतनी ही होती है कि इसमें स्वाभाविक अभिमान उत्पन्न होने लगता है।

एक मास बाद वह कहानी प्रकाशित हो गई। उसे पढ़कर सचमुच रामेश्वर के हृदय में गुदगुदी हुई। फिर तो वह बड़ी कुशलता से और भी कहानियाँ लिखने लगा। धीरे-धीरे वह सिद्धहस्त हो गया। उसे कहानियों पर पुरस्कार भी मिलने लगे। अब उसका जीवन भी सुव्यवस्थित हो चला।

२

कई मास बाद, मेरे परिचित सम्पादक मेरे यहाँ आये। मुझसे मिलकर उन्होंने रामेश्वर की कहानियों की बड़ी प्रशंसा की। कहने लगे—रामेश्वरजी की कहानियाँ मेरी पत्रिका के पाठक बड़े चाव से पढ़ते हैं। उनकी प्रशंसा में प्रति मास अनेक पत्र आते हैं। ग्राहक-संख्या भी बढ़ रही है। उनकी कहानियों में जादू है।

मेरे साथ ही वह रामेश्वर के घर पर उससे मिलने के लिए गये। वह बैठा कोई 'प्लाट' बना रहा था—देखकर मैं समझ गया। मैंने उसे सम्पादकजी का परिचय दिया।

हम लोग वहीं चारपाई पर बैठ गये। रामेश्वर नम्रता-पूर्वक देख रहा था। वह चुप था। सम्पादकजी बोले—रामेश्वर-बाबू, आपकी कहानियों का मैं भक्त हूँ। मुझे तो वह कहानी बहुत ही पसन्द है, जिसमें आपने एक माता के पुत्र-शोक का वर्णन करते हुए लिखा था—'मेरा लाल! तू भूखा होगा, तुझसे कौन पूछता होगा कि तुझे भूख लगी है! मेरे लाल, तू अपनी माँ के सिवा कहाँ सोता होगा! तुझे थपकियाँ दे-देकर कहानियाँ कौन सुनाता होगा? आह, मेरा लाल! तू कहाँ गया!'—आप करुण कहानी लिखने में बड़े निपुण हैं। उसी दिन मेरा विश्वास हो गया कि आप इस कला के मर्मज्ञ हैं। बधाई!

मैं रामेश्वर की तरफ देखकर मुस्करा रहा था। न जाने क्यों, आज वह चुप था।

सम्पादकजी ने फिर कहा—कहिये, अब मैं आपकी कहानियों का क्या पुरस्कार दूँ?

उसने कहा—मैं अपने हृदय के रक्त से कहानियाँ लिखता हूँ। उनका मूल्य क्या होगा?



भाग्य का खेल

१

एक दिन ईश्वर अवश्य सुनेंगे। ईश्वरीय लीला को कौन समझ सकता है ? एक राजा—भिखारी हो जाता है, एक भिखारी—राजा बन जाता है !

उमा ने एक आह खींचकर कहा।

मेरा वह समय गया उमा ! अब लौटकर नहीं आवेगा। उसकी आशा करना व्यर्थ है !

उमा के पति केशवप्रसाद ने उत्तर दिया।

दो वर्ष पहिले 'केशव' नगर के प्रसिद्ध धनियों में थे।

लाखों रुपये का हेर-फेर वर्ष में हो जाता था। कोठी के सामने पहरा पड़ता था। नौकर-चाकरों से घर भरा था। लक्ष्मी की कृपा थी। अपने कुर्ते का बटन भी वह अपने हाथ से नहीं लगाते थे। बड़े-बड़े अफसर, रईस और पंडित उनका द्वार खटखटाया करते थे। सबको वह अपने सरल व्यवहार से प्रसन्न रखते थे। बहुत दिनों तक उनका जीवन अपने परिश्रम और उद्योग से बड़ा सुखी था।

किन्तु विपत्ति की सेना एक साथ ही मनुष्य के भाग्य पर धावा करती है। कुछ ही समय में उनका सब खेल नष्ट हो गया। व्यापार में घाटा हुआ। बैंक का रुपया डूब गया। मुकद्दमों में बहुत-सी सम्पत्ति चली गई।

उनके-जैसे सरल, दयालु, नम्र और निष्कपट मनुष्य के ऊपर यह ईश्वरीय प्रकोप था, अथवा संसार के रहस्य का कोई अभिनय—यह कौन जान सकता है?

जिसका जो कुछ देना था, उन्होंने अपने सुख की अमूल्य वस्तुओं को बेचकर चुका दिया। किन्तु उनका रुपया जिसके यहाँ बाकी था, उसने साफ इनकार कर दिया।

श्यामदास उनके मित्र थे। एक बार आवश्यकता पड़ने पर केशव ने उन्हें पाँच लाख रुपया केवल एक हैंडनोट पर

दे दिया था। विपत्ति के समय केशव ने उनके यहाँ जाकर कहा—भाई, मेरा समय बड़ा बुरा आ गया है। अब इस समय रुपया दे दो, तो बड़ा उपकार हो।

श्यामदास एक अमीर मित्र की दृष्टि से देखते हुए कहने लगे—कैसा रुपया ? मुझे कब रुपया दिया था ?

आपका लिखा हुआ हैंडनोट मेरे पास है।

क्या कहा ? हैंडनोट ! मेरा लिखा ? कितने रुपये का ?

पाँच लाख का।

पाँच लाख रुपया आपने मुझे हैंडनोट पर दे दिया ? क्या खूब ! जाल भी बनावे तो ऐसा ! अरे भले आदमी, जिसके सामने इस तरह कहोगे, वह तुम्हें मूर्ख समझेगा। पाँच लाख—बिना जमानत के, या रजिस्ट्री कराये बिना—कौन देगा ?

केशव ने माथा थामकर कहा—श्यामदास, तुम्हारे हाथ के लिखे पत्र भी रक्खे हैं। ईश्वर से भी तो डरो। क्या वह दिन भूल गये ?

श्यामदास ने पहले ही जान लिया था कि इस समय केशव की स्थिति बिगड़ी हुई है—वह मुकदमा भी नहीं

चला सकते। अतएव बड़े साहस के साथ बोले—मेरे हाथ का लिखा है, तो जाओ, मुकदमा चलाओ।

श्यामदास, यही तुम्हारा अन्तिम उत्तर है ?

हाँ, मैं तुम्हारा रुपया नहीं जानता—कहते हुए श्यामदास अपने काम में लग गये।

निराश होकर केशव चले आये। उनका छोटा-सा संसार टूट-फूटकर टुकड़े-टुकड़े हो गया।

२

बहुत समय बीत गया।

नगर में श्यामदास की तूती बोल रही थी। कुछ ही समय में वह आनरेरी-मजिस्ट्रेट, म्युनिसिपल-कमिश्नर आदि सब कुछ हो गये। पिछले वर्ष रायबहादुर का खिताब भी मिल गया।

अपनी सफलता पर वह फूले न समाते थे। एक साधारण व्यक्ति अपनी चतुराई से अब एक प्रभावशाली और प्रतिष्ठित पुरुष समझा जाने लगा। इसपर अभिमान होना स्वाभाविक ही था।

उनके हृदय में यह बात समा गई थी कि लोग उन्हें अत्र मान और आदर की दृष्टि से देखें; किन्तु जनता एक

साधारण सच्चरित्र पुरुष के समान भी उनसे व्यवहार करने को तैयार नहीं थी। वह सरल नहीं थे; विशेष शिक्षित भी नहीं। उनमें अभिमान था। और, अपने धन के अहंकार में सबके ऊपर प्रभुत्व जमाना चाहते थे।

धीरे-धीरे जनता में उनके प्रति असन्तोष फैला। लोग कहते, गवर्नमेंट का खुशामदी है।

आनरेरी-मजिस्ट्रेटी में कभी-कभी उनके फैसले अन्याय-पूर्ण होते थे। कोई कुछ कर ही क्या सकता था? सब उनसे डरते थे। असहयोग के समय में उन्होंने सरकार की बड़ी सहायता की थी। इसीपर तो 'रायबहादुर' का खिताब मिला था।

नगर के बहुत लोगों का रुपया उनकी कोठी में जमा था। वह उन्हीं रुपयों का हेर-फेर इस ढंग से करते थे कि लोग उन्हें बड़ा धनी समझते थे; पर वास्तव में वह उतने धनी नहीं थे, जितना लोगों का अनुमान था। यह था उनका रहन-सहन और बड़े-बड़े अफसरों से मिलने का परिणाम, जिसने उनको प्रतिष्ठित बना दिया था।

कई वर्ष बीत गये।

दिन-दिन लोगों में उनके प्रति अश्रद्धा बढ़ती गई। यहाँ

तक कि जिनके रुपये उनकी कोठी में जमा थे, सब निकालने लगे। उनकी समझ में यह बात न आई। उनका कारबार शिथिल होने लगा। अब घर के रुपये भी खर्च होने लगे। आमदनी का ढंग बिगड़ गया था, और अपनी प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखने के लिए साधारण व्यय में कमी कर ही नहीं सकते थे।

२

केशव ने सब-कुछ खो दिया था; परन्तु लोगों में उनका मान पहले-ही-जैसा था। उसका कारण था—उनका सद्-व्यवहार, धार्मिक जीवन और ईमानदारी।

अमीरी के बाद जब बुरे दिन आ जाते हैं, तो वे मनुष्य के लिए मृत्यु से भी अधिक भयानक होते हैं। कितना कष्ट होता है, यह सबके लिए अनुभव करना बड़ा कठिन है।

कहाँ तो वह समय था, जब मूल्यवान कपड़ों से ट्रंक भरे रहते थे, और कहाँ अब एक ही कुर्ता-धोती से दिन कट रहा था! अब कपड़े मैले हो जाते, तो उमा उन्हें साबुन से साफ करती, और केशव उन्हींको पहनकर बाहर निकलते थे।

एक दिन आँखों में आँसू भरकर केशव ने कहा—उमा, तुम्हें परिश्रम करते देखकर मेरा हृदय फटने लगता है। इस जीवन से तो मृत्यु अच्छी है।

स्वामी ! एक-से दिन नहीं रहते। यदि मनुष्य का सदाचार बना रहे, तो कभी उसका पतन नहीं होता। मैं तो अपनेको उतना ही सुखी समझती हूँ, जितना पहले समझती थी।

यह सब मुझे सान्त्वना देने के लिए तुम कहती हो उमा ! वास्तव में क्या तुम ऐसा ही समझती हो ?

मैं सच कहती हूँ, मुझे तो ऐसा अनुभव होता है कि मैं पहले से अधिक सुखी हूँ।

सो कैसे ?

दिन-रात मैं आपके कष्टों का अनुभव करती हूँ, और उसका परिणाम यह होता है कि दिन-दिन आपकी सहानुभूति मेरे प्रति बढ़ती जाती है। यही मेरे लिए सौभाग्य की बात है।

केशव ने कुछ उत्तर नहीं दिया। ऐसी गृहलक्ष्मी पाकर मन में वह अपनेको परम सौभाग्यशाली समझते थे।

दिन-पर-दिन और महीने के बाद महीने आये और

चले गये। केशव के एक दूर के सम्बन्धी की अकस्मात् मृत्यु हो गई। वही उसकी सम्पत्ति के अधिकारी हुए।

दिन बदलने लगे।

केशव ने फिर पहले की भाँति अपना व्यवसाय आरम्भ कर दिया। उनकी इस सफलता पर, बहुत-से नास्तिक लोग भी, ईश्वर के भरोसे पर रहनेवालों को देख-कर, आश्चर्य करते।

धार्मिक लोग कहते—ईश्वर ईमानदार का साथी है।

४

श्यामदास के धन के लोभ ने खूब तांडव नृत्य दिख-लाया—कभी आता, कभी चला जाता। इधर-उधर से आता, इधर-ही-उधर चला जाता। मान के लिए कुछ चंदा, डाली और भेंट में चला जाता—कुछ रसीली मद-भरी आँखों की खोज और रूप की प्यास में!

केशव ने उनसे मिलने पर एक दिन फिर कहा—भाई, अब भी रुपया दे दो। क्या तुम्हें यही उचित था?

मैंने एक बार कह दिया; मैं आपका रुपया नहीं जानता—बस।

अच्छा तो अब अदालत में देना, कहे देता हूँ।

अगर तुम्हारा हो, तो ले लेना।

श्यामदास को अदालत पर पूर्ण विश्वास था। सभी लोग उनके परिचित थे। उन्होंने समझा, मुकदमा खारिज हो जायगा।

कुछ दिनों बाद केशव ने उनपर पाँच लाख का दावा किया। कई वर्ष मुकदमा चलता रहा। अन्त में वह हार गये—बड़े संकट में पड़े, तब आँखें खुलीं। देखा, क्षितिज से दौड़ते हुए विपत्ति के काले बादलों के झुंड ने सुख-सूर्य के प्रकाश को मिटा दिया था।

उनकी सब सम्पत्ति बिक जाने पर भी केशव को चार ही लाख रुपये मिले—एक लाख बाकी ही रह गया। तब उनके वकील ने सम्मति दी कि बाकी एक लाख के लिए आप उन्हें जेल भेज सकते हैं।

केशव ने चिन्तित भाव से कहा—ऐश्वर्य के बाद दरिद्रता के दिन क्या जेल से कम होते हैं वकील-साहब? श्यामदास पर और कष्टों का बोझ लाद देने का साहस अब मुझमें नहीं है।

श्यामदास को देखकर लोग कहते—बुरे कर्मों का आरम्भ बड़ा सुन्दर होता है, किन्तु अन्त बड़ा भीषण!

करुणा

१

एक दृश्य—

अन्धकार का चारों तरफ़ राज्य था। एक पहर रात ढल चुकी थी। आकाश के अञ्चल में तारे जगमगा रहे थे। चन्द्रदेव दूसरे देश में भ्रमण कर रहे थे! उस पतली-सी गली में कोई किसीको देख न सकता था, कभी-कभी तो ऐसा हो जाता कि अन्धकार के कारण एक दूसरे मनुष्य की टक्कर लड़ जाती। कूड़ा जगह-जगह फैला था, सफाई कुछ भी न थी। उसी गली में एक पुराना मकान

था। देखने से यह ज्ञात होता था कि अबकी वर्षा-ऋतु में यह मकान खड़ा न रह सकेगा। उसी मकान की एक कोठरी में एक दीपक जल रहा था। उसमें कुछ सामान भी नहीं दिखाई देता था, केवल कुछ मिट्टी के बरतन पड़े थे, और एक रोगिणी शय्या पर पड़ी थी। रोग के कारण उसका शरीर पीला हो गया था। शरीर में हड्डी-हड्डी निकल आई थी। उस दीपक के मंद-मंद प्रकाश में उस रोगिणी की गढ़े में धँसी हुई आँखें डबडबा रही थीं।

एक नन्हा-सा बच्चा उसके वक्षस्थल में छिपा हुआ दूध पी रहा था। रोगिणी बार-बार उसकी तरफ़ देखती, उसके नेत्रों से आँसू की धार बह रही थी। वे अश्रु-कण अपने मार्ग मे खिसककर बच्चे के गाल पर टपक रहे थे। वह नन्हा-सा बच्चा अपनी माँ की तरफ़ देख रहा था, और माता उसकी तरफ़ देख रही थी। बच्चे ने अपने छोटे-छोटे हाथों को ऊपर उठाते हुए कहा—"म...माँ...आँ।" माता ने उसे चूम लिया। उसके सिर पर हाथ थपथपाते हुए उसने कहा—"बेटा, सो जाओ।" रोगिणी की दशा पहले से अब कुछ अच्छी हो चली थी।

परिचय—

वह एक वेश्या थी, पतिता थी, और समाज से निकाली हुई अभागिनी थी। उसकी रूप की दूकान थी और दूकान भी ऐसी, जो न चलती हो। कुछ धन भी एकत्र न कर सकी। रूप भी नष्ट हो गया। दूकान टूट गई। एक बालक हुआ, तभी से वह बीमार पड़ी। कई मास तक वह बीमार पड़ी। कई मास तक वह रोगग्रस्त थी। पेट के लिये घर का सब सामान बिक चुका था। ग्राहक भी नहीं आते थे।

और सहायक भी कोई न था। फिर भी दुखिया रो-रोकर अपने दिन काटती थी। उसे केवल अपने ही तन की चिंता न थी, उसका एक बालक भी था। सबसे अधिक चिंता उसे अपने बच्चे की होती। उसे दूध तक न मिलता था। दुखिया के स्तन में इतना दूध होता नहीं था, जिससे उसका पालन होता। उस दुखिया का नाम था—करुणा!

कई दिन बाद—

करुणा ने देखा, अब बच्चे का जीवन-निर्वाह करना उसके लिये बड़ा कठिन है। इस तरह तो एक दिन उसकी मृत्यु हो जायगी। उसने अपने मन में कहा—"यदि मैं

अपना बच्चा किसीको दे दूँ, और वह इसे अच्छी तरह रक्खे……किंतु एक वेश्या के बच्चे को कौन रक्खेगा—लोग उससे घृणा करेंगे !" अन्त में उसने निश्चय किया कि रात्रि के समय बालक को मार्ग में रख दूँगी। कोई-न-कोई उसे उठा ले जायगा, और उसका पालन-पोषण करेगा। उसने मोह को अपने हृदय से हटा दिया।

अभी दो घड़ी रात बाक़ी थी। करुणा उठी, बालक को उसने गोद में ले लिया। फटे वस्त्रों से उसने उसे लपेट लिया और घर से वह निकल पड़ी। बार-बार घूमकर देख रही थी कि उसे कोई देख तो नहीं रहा है। उसके हाथ में बालक के खेलने का एक शीशे का खिलौना था। बालक का बोझ वह रुग्णावस्था के कारण सँभाल न सकती थी। चलते-चलते वह एक सड़क पर आई। अभी पूर्व दिशा में लाली नहीं छाई थी, फिर भी सबेरा होने ही वाला था।

करुणा ने एक स्थान पर बालक को रख दिया। उस समय वह अश्रुपात कर रही थी। वह सोचती, अब बच्चे को इस जीवन में देख सकूँगी या नहीं। बार-बार वह बच्चे की तरफ़ देखती। वसंत का पवन आकर उसको स्पर्श करता।

उसकी आत्मा कहती—"जो कुछ तुम्हारे पास है, वायु के साथ उसे लुटा दो।" उसने अपने हृदय को कठोर किया। कष्ट सहते-सहते वह कठोर हो चली थी। किन्तु फिर भी वह माता का हृदय था।

करुणा ने बालक को चूम लिया। उसने कहा—"मोहन, आज अन्तिम बिदाई है, अब तुम अपनी माँ से अलग हो रहे हो। ईश्वर तुम्हारी रक्षा करे।" यह कहती हुई वह उन्मादिनी की तरह चली जा रही थी। मोहन के रोने की ध्वनि उसके कानों में गूँज रही थी। उसके हाथ में मोहन के खेलने का एक खिलौना था; किन्तु खेलनेवाला न था। वह अपने घर की तरफ़ न जाकर कहीं दूसरी ही तरफ़ चली गई।

अनाथ मोहन—

मन्दिर में घंटा बज रहा था। स्वर्णमयी उषा का क्षितिज में आगमन हुआ था। गंगा-स्नान करने के लिये लोग घर से निकल रहे थे। एक रमणी भी अपनी दासी के साथ स्नान करने के लिये जा रही थी।

"हाय! यह क्या! यह बच्चा यहाँ किसका रो रहा है?"—रमणी ने आश्चर्य से कहा। दासी ने जाकर

देखा, उसने उसे अपनी गोद में उठा लिया, और कहा—"बहूजी, बच्चा तो बड़ा सुन्दर है, किसीने यहाँ रख दिया है। हाय, उसे जरा भी मोह न था।" बहूजी ने कहा—"अच्छा, इसे घर ले चल।"

बहूजी की जवानी ढल चुकी थी। संतान कोई उत्पन्न नहीं हुई थी। पति बड़े व्यवसायी थे, घर में लक्ष्मी का निवास था। वह बालक घर में अब सबका खिलौना हो गया। बड़े लाड़-प्यार में उसके दिन बीतने लगे। बहू-जी को ही वह अपनी माता समझता था।

माता की व्यथा—

स्मृति काँटों की शय्या है। करुणा कभी रोती है, कभी हँसती है। रोती है वह मोहन के लिये, और हँसती है अपने जीवन पर। पथ-पथ में वह फिरती है। कितनी रजनी उसकी सड़कों पर कटी हैं। अब न उसका घर था, न कोई साथी। सब कुछ छोड़ चुकी थी, और छोड़ चुकी थी अपने जीवन की अमूल्य संपत्ति मोहन को! वह विकल हो इधर-उधर फिरा करती। पगली समझकर कोई उसे खाने को दो रोटियाँ दे देता। इसी तरह अपना जीवन काटती रही।

करुणा जब किसी बालक को खेलते हुए देखती, तो

उसे मोहन की स्मृति आ जाती। वह बार-बार उस खिलौने को देखकर रोती; क्योंकि मोहन की स्मृति के लिये केवल वह खिलौना ही उसके पास था। वह उसे हृदय से लगा लेती और समझती, यही मेरा मोहन है। उसका दिमाग़ ख़राब हो चुका था। उसे न अपने भोजन की चिंता थी और न कपड़े की। यदि कोई दे देता, तो उसे वह ले लेती। मार्ग में चलता हुआ कोई उसके सामने एक पैसा फेंक देता, तो वह घृणा से उसे फेंक देती। लोग समझते, यह पगली है।

एक दिन करुणा को देखकर एक आदमी ने कहा—"अरे यह तो वही वेश्या है!" दूसरे ने कहा—"जैसा किया था, उसीका फल भोग रही है—बुरे कर्म का बुरा परिणाम!"

किन्तु करुणा के साथ कोई सहानुभूति प्रकट करनेवाला न था। समाज उसका निरादर करता था। वह विकल होकर कहती—"अभागे प्राण अब भी नहीं निकलते। हाय मैं क्या करूँ? मोहन! प्यारे मोहन!! आ जा मेरी गोद में!"

दो वर्ष बाद—

वर्षा-ऋतु के काले बादल अब सफ़ेद और पतले हो चले थे। सफ़ेद बादल आकाश में टकरा रहे थे। सूर्यदेव उन बादलों पर चित्रकारी कर रहे थे।

एक बड़ा सुन्दर-सा मकान था। उस मकान के सामने एक वाटिका थी। एक बालक ने कहा—"गिलधाली! ए गिलधाली!! वह तितली मुजे पकल दो।"

"क्या करोगे?"

"उसे लखूँगा।"

"नहीं, वह मर जायगी।"

"मैं उसे खिला दूँगा।"

"मैं उसे नहीं पकड़ सकता, वह उड़ जायगी।"

बालक उसे पकड़ने चला, तितली उड़ गई। वह उसकी तरफ़ देखने लगा। फिर वह अपनी रबड़ की गेंद को उछाल-उछालकर खेलने लगा।

एक भिखारिन बहुत देर से वहाँ खड़ी देख रही थी। आज भूले-भटके सहसा वह इधर आ गई थी। वह चुप-चाप देख रही थी—"आह, यह तो मेरे मोहन की तरह है! आँखें वैसी ही हैं—रङ्ग भी कुछ साँवला-सा है। गोल मुँह भी है। एक दिन चारपाई से गिरने पर उसके जो

चोट आई थी, उसका चिह्न अब तक मस्तक पर बना है। अवस्था भी इसकी उतनी ही है। एक वर्ष का था—दो वर्ष बीते। तीन वर्ष का तो यह बालक भी मालूम पड़ता है। यही है मेरा मोहन।"

इन्हीं वाक्यों को करुणा गुन-गुना रही थी। प्रेम से उसका हृदय उमड़ रहा था। मोती का हार टूट गया था, दाने एक-एक करके भूमि पर गिर रहे थे।

गेंद उछलते-उछलते करुणा के पास आ गई। बालक उसे लेने के लिये दौड़ा। वह उसकी तरफ देख रही थी। उसने धीरे से कहा—"मोहन, भूल गये क्या?"

मोहन ने कहा—"तुम भीख माँगती हो? क्या पैसा ला दूँ?"

"नहीं?"

"तब क्या?"

"अपने बच्चे को खोजती हूँ।"

"वह कहाँ है?"

"तुम हो।"

मोहन ने हँस दिया। उसने कहा—"मैं अपनी अम्मा का बच्चा हूँ, तुम्हारा नहीं।"

करुणा ने अपने वक्षस्थल में छिपा हुआ एक खिलौना निकालकर कहा—"लो, यह तुम्हारा खिलौना है।" वह अपनेको अब सँभाल न सकी। मोहन को गोद में लेकर रोने लगी। उधर नौकर ने जब देखा कि एक भिखारिन की गोद में मोहन है, तो वह भिखारिन के सामने आ गया, और कहा—"दुर हो यहाँ से।"

यह कहते हुए बालक को उसने उठा लिया।

करुणा चुप हो गई, वह देखने लगी। उसने अपने मन में विचार किया कि इस समय यदि मैं कहती हूँ कि यह मेरा बालक है, तो कोई विश्वास ही न करेगा, और यदि विश्वास हो भी गया, तो मोहन सबकी दृष्टि में गिर जायगा। लोग समझेंगे, एक वेश्या—एक भिखारिन—का पुत्र है। उसका जीवन नष्ट हो जायगा।

वह विकल होकर रोने लगी।

नौकर गिरधारी ने पूछा—"क्यों रोती है? भूखी है क्या?" ऊपर से बहूजी ने कहा—"अरे उसे कुछ खाने को दे दो।"

परन्तु करुणा वहाँ से उठी। उसके पास मोहन की स्मृति के लिये जो खिलौना था, वह भी उसने वहीं छोड़

दिया। वह दौड़ती हुई चली जा रही थी। आज उसके मुख पर करुणा और संतोष था।

गिरधारी ने कहा—"बहूजी! यह तो पागल हो गई है।"

उस दिन से फिर करुणा को किसीने नहीं देखा। न जाने कहाँ चली गई!



वंशीवाला

"अब वंशी न बजाऊँगा"—यह उसने प्रतिज्ञा कर ली थी। पहले वह बड़ी कुशलता से वंशी बजा लेता था। उसके बजाने में उसकी आँखों के सामने कल्पना का संसार दिखता था। उस ध्वनि में दर्द था, उसमें सम्मोहन था। वंशी बजाकर ही शायद वह अपनी आंतरिक पीड़ा को शांत करता था।

उस घटना को भी ५ वर्ष हो गये थे। वह निर्जन स्थान में इधर-उधर शांति के लिये भटकता रहा।

उसने सोचा कि यह पीड़ा वंशी के कारण ही उत्पन्न होती है, अब वह भी नहीं बजाऊँगा।

घर छूट गया था। बहुत समय चला गया। उसके घुँघराले बालों ने बढ़कर जटा का रूप धारण कर लिया था। उसकी जादू-भरी सफ़ेद आँखों ने धँसकर अपने चारों तरफ़ काली रेखाएँ बना ली थीं।

वह योगी नहीं था, महात्मा नहीं था और दार्शनिक भी नहीं था। फिर क्या था ? हाँ, उसे प्रेम का उन्माद था। संसार की घटनाओं से वह हताश हो गया था। प्रेम के कलंक का टीका उसके मस्तक पर लग चुका था। संसार ने उसकी ओर चकित होकर देखा था। उसी दिन उसे अपनी अवस्था का ज्ञान हुआ। वह रोया, फूटकर रोया, और जी भरकर रोया। उस रोने में बड़ा स्वाद था।

उसी दिन से वह अपना घर छोड़कर चला गया था। तभी से बंशी बजाने लगा। वंशी उसके प्रेम का गान करती थी, और उसकी प्रतिध्वनि उसे सांत्वना देती थी।

वंशी उसकी दिनचर्या को समाप्त करती थी; किंतु आधी रात का चन्द्रमंडल और तारे उसे प्रेमपथ को भूल जाने का आदेश दिया करते थे।

उस दिन उषा की लाली के साथ ही उसके प्रियतम का उसे दर्शन हुआ था। वह अवाक् रह गया, भयभीत

हो उठा। वह उसे न देखने की चेष्टा करने लगा। किन्तु आँखों को वश में न कर सका। वह मचल गया। हृदय की व्याकुलता के कारण वंशी की ध्वनि बेसुरी होने लगी। वह उठा और चला गया। अपने प्रणय-पात्र को भूल जाने के लिये ही उसने वंशी न बजाने की प्रतिज्ञा कर ली थी। वंशी की ध्वनि के साथ उसके सम्मुख जो प्रतिमा प्रत्यक्ष हो जाती थी, वह लुप्त होने लगी।

उसने समझा, अब मैं विजयी हुआ।

उस दिन चन्द्रदेव को क्रीड़ा करते देखकर उसने मन-ही-मन कहा—"क्या अब मैं हृदयहीन हो गया ? क्या वास्तव में हृदय से प्रेम की भीषण लहरें चली गईं ? उस घटना का रेखा-चित्र भी अब मेरी आँखों के सामने नहीं आता। तब तो मेरे पास कुछ भी न रहा।

वह उठा। गम्भीर होकर विचार करने लगा। उसने रोने की चेष्टा की, किंतु रो न सका। हँसने का उद्योग किया, किंतु हँस भी न सका। फिर गाने का विचार किया, और कुछ गुनगुनाने लगा। वंशी बजाने की कामना उसके हृदय में प्रबल हो उठी।

दूसरे दिन वह नगर की ओर लौटा।

फिर उसने वंशी ली और उसे बजाने लगा। सदा की भाँति वंशी बजाने का उसका नियम हो गया। वंशी की स्वर-लहरी ने उसके मर्मस्थल पर सोये हुए प्रेम को फिर से जगाया। वह उन्मत्त हो चला। अपने भूले हुए प्रियतम को देखने के लिये उसकी आँखें चञ्चल हो उठीं।

वंशी के साथ-साथ उसकी अन्तर-वीणा बजने लगी। उसी राग में मस्त होकर वह अपने प्रणय-पात्र को एक बार फिर देखने के लिये चल पड़ा।

वह आया। बहुत समय व्यतीत हो गया था। वही घर था। उसने ध्यान से देखा। बहुत देर तक देखता रहा। किन्तु कुछ दिखलाई न दिया। वह चुपचाप वहीं बैठकर वंशी बजाने लगा। खूब बजाया। बहुत-से लोग सुनने के लिये एकत्र हो गए थे, किन्तु उस घर में कोई न था। किसीने उसे योगी समझकर नमस्कार किया, किसीने साधु समझकर भक्ति प्रकट की। किन्तु उसे समझनेवाला कोई न था, वह केवल वंशी ही थी।

निराश होकर उसने पूछा—इस घर में अब कोई नहीं रहता?

किसीने उत्तर दिया—इस घर के निवासी अब दूसरे प्रांत में चले गए हैं।

वंशीवाले के जीवन के रहस्य को कोई समझ न सका। वह टहलता हुआ आगे बढ़ा। कुछ दूर चला आया, गंगातट पर उसने एक टूटा हुआ शिवाला देखा। उस दिन से वह उसी शिवाले में निवास करने लगा।

सावन-भादों की निचाट रात में अब भी उसकी वंशी कभी-कभी सुनाई पड़ती है!



रधिया

१

पूस का जाड़ा था। चारों ओर अन्धकार! कुहरे के धूमिल परदे में आकाश छिपा हुआ था। गंगा के उस पार बादलों का एक देश दिखलाई देता था। चन्द्रदेव रजनी के स्नेहाञ्चल में दुबककर सो रहे थे।

गंगा-तट पर वृक्षों के नीचे सैकड़ों भिखारी ठिठुरकर गठरी बने हुए पड़े थे। उनमें कोई लँगड़ा था, कोई लूला। कोई अन्धा था तो कोई एकदम हाथ-पाँव से हीन। कोई सरदी से खाँस रहा था और कोई दमे से बेहाल था। कोई

ज्वराक्रान्त था और कोई क्षुधार्त्त। कहीं से 'आह-आह' सुनाई पड़ती थी, तो कहीं से चीत्कार और हाहाकार। यहाँ था दुःखमय संसार के सच्चे धनियों का दल !

तट के ऊपर अट्टालिकाएँ आकाश छू रही थीं, जिनमें सुखमय संसार के धनियों का दल आनन्द कर रहा था। कहीं से सितार की मीठी झंकार आ रही थी, तो कहीं से पियानो और हारमोनियम की सुरीली तान। कहीं-कहीं से वंशी की जादू-भरी फूँक श्रोताओं के रोम-रोम में गुदगुदी पैदा कर देती थी। इन वाद्य-यंत्रों की स्वर-लहरी में किसी-के सुखमय अतीत का सङ्गीत तरंगित हो रहा था, तो किसीकी दर्द-भरी आहें क्रन्दन कर रही थीं।

वहीं एक वृद्धा स्त्री पेड़ के नीचे एक छोटी-सी बालिका के साथ विश्राम कर रही थी। चिथड़े ही उसके ओढ़ने और बिछौने थे। वृद्धा अन्धी थी, बालिका पर उसकी बड़ी ममता थी—वही उसके जीवन की 'हीरा-मोती' थी।

वृद्धा ने कहा—रधिया, तुझे नींद नहीं आती क्या ? जाड़ा लगता है; आ मेरे कलेजे से लगकर सो जा।

रधिया बोली—नहीं नानी! जाड़ा तो नहीं लगता। एक बात है, आज मुझे चार पैसे एक साथ ही मिल गये थे।

सो कैसे बच्ची ?

आज एक राजा गंगा-स्नान करने आए थे। उनके साथ रानी भी थीं। उनकी देह पर नाना प्रकार के रत्न-जटित आभूषण जगमगा रहे थे। उन्हीं के नौकर ने मुझे चार पैसे दिए। अच्छा नानी ! एक बात बताओगी ?

क्या बात है बेटी ?

रानी को इतना गहना कहाँ से मिला नानी ?

उन्हें ईश्वर ने दिया है बेटी।

तो ईश्वर हम लोगों को क्यों नहीं देता ?

ईश्वर गरीबों को नहीं देता।

क्यों ?

इसलिये कि फिर तो संसार-भर धनी हो जायगा। तब न गरीब रहेंगे और न दया-परोपकार के पुण्यकर्म ही हो पाएँगे।

रधिया की समझ में कुछ न आया। वह बार-बार यही सोचती थी कि रानी के हाथ का कड़ा कितना चमकता था।

वृद्धा ने कहा—'बेटी, अब सो जा। बहुत रात बीत गई।'

२

रधिया जब छः वर्ष की थी, तभी उसकी माँ इस कोलाहलमय संसार को छोड़कर चली गई थी। वृद्धा ने बड़ी-बड़ी तकलीफें उठाकर उसे पाला-पोसा और इतना बड़ा किया। जब वह भीख माँगने जाती, तो साथ में रधिया को भी ले जाती; रधिया अन्धी के हाथ की लकड़ी थी। उसे पाकर बुढ़िया अपनेको बहुत ही सुखी समझती थी।

इधर रधिया भी दिन-पर-दिन बढ़ रही थी।

वृद्धा का शरीर जर्जर हो गया था। अब वह भीख माँगने भी न जाती थी—चलने की सामर्थ्य न थी। रधिया जो कुछ माँगकर लाती, उसीमें दोनों का निर्वाह होता था। वह बड़े प्रेम से नानी को दिन-भर की कहानी सुनाती थी। एक बालक को जिस तरह अपने प्यारे खिलौने का मोह होता है, उससे कहीं अधिक रधिया को उस वृद्धा का मोह था।

३

बहुत समय बीत गया।

रधिया अब सयानी हो गई थी।

एक दिन उसने देखा—वृद्धा का शिथिल कंकाल ज्वर की भीषण ज्वाला से धधक रहा है। उसके रोम-रोम से चिनगारियाँ निकल रही थीं। बेचारी रह-रहकर कराह उठती थी।

रधिया ने कहा—'नानी, यह बुखार तो चूल्हे की आँच से भी अधिक तेज होता जा रहा है। अच्छा, जाती हूँ। देखूँ जो दूध के लिये कहीं चार पैसे मिल जायँ।'

रधिया दिन-भर राह में भटकती रही। उसे कहीं कुछ न मिला।

उसे जो मिलता, कहता—'छिः! इतनी बड़ी लड़की होकर भीख माँगती है। ईश्वर ने हाथ-पैर दिए हैं, जा कहीं नौकरी कर ले।'

अक्सर लोग दिल्लगी कर बैठते थे!

अन्त में बेचारी मर्माहत होकर लौट आई। अब उसे भीख माँगने में संकोच होता था।

वृद्धा ने टूटे स्वर में कहा—'बेटी, आज क्या मिला?'

'कुछ भी न मिला नानी! लोग कहते हैं—इतनी बड़ी लड़की होकर भीख माँगती है! जा नौकरी कर ले।'

वृद्धा ने आँखें बन्द करते हुए कहा—'हाँ बेटी, तू नौकरी कर ले। मैं भी जाती हूँ, मेरी नौकरी पूरी हो गई।'

'कहाँ नानी ?'

'यहाँ की नौकरी से मन भर गया। वहाँ की नौकरी करने जाती हूँ।'

रधिया की समझ में कुछ न आया।

उसने कई बार पूछा—'कहाँ नानी ?' किन्तु उसे कोई उत्तर न मिला।



दीप-दान

१

चाची विधवा थीं। धर्म-कर्म में उनकी बड़ी श्रद्धा थी। दिन-रात ईश्वर में लीन रहतीं। पड़ोस के लड़के उन्हें 'चाची' ही कहा करते थे। वह उन्हें कृष्ण भगवान की कहानी सुनाया करतीं, प्रसाद देतीं; इसीलिये सब उन्हें घेरे रहते।

अन्नपूर्णा पर चाची का बड़ा स्नेह था। उनके घर का बहुत-सा काम वह कर जाया करती। प्रकाश भी स्कूल से पढ़कर उनके यहाँ खेलने आया करता। वहाँ सायङ्काल में बालक-बालिकाओं का अच्छा जमाव होता था।

उनके कोई संतान न थी, इसलिये सब बालक उन्हीं के थे। वह बाललीला देखकर भगवान का स्मरण करती थीं।

कार्तिक में चाची एक मास नित्य गंगा-स्नान करने जाया करती थीं। अन्नपूर्णा और प्रकाश भी कभी-कभी उनके साथ जाते थे। उनके उठने के पहले ही, तीन बजे शिवमंदिर के घंटे की ध्वनि सुनकर, प्रकाश को अन्नपूर्णा उठा देती और कहती—जल्दी उठो, नहीं तो चाची चली जाएँगी।

स्नान करने के बाद चाची दीप-दान करती थीं। प्रकाश और अन्नपूर्णा भी दीये जलाकर गङ्गा में प्रवाहित करते थे, और अपने-अपने दीपक पर कुछ चिह्न लगाकर उसे अन्त तक देखा करते थे।

प्रकाश ने कहा—"देखो अनू, मेरा दीपक आगे चला गया, वह देखो, तुम्हारा दीपक डूब रहा है।"

गङ्गाजी की लहरें दीपकों से किलोल कर रही थीं।

अनू कहती—"लो, तुम्हारा दीपक भी बुझ रहा है। वह देखो, कितनी दूर चला गया!"

प्रकाश देखता ही रहा। उसका दीपक आँखों से ओझल हो गया था।

चाची यह दृश्य देखकर मन-ही-मन प्रसन्न होती थीं और दोनों भाई-बहन को साथ लेकर घर लौट आती थीं।

२

दस वर्ष समाप्त हो गये थे।

पड़ोस के कई मकान गिरकर अब खँडहर हो गए थे। अन्नपूर्णा का विवाह हुआ, फिर प्रकाश का भी विवाह हुआ। सब संसार की चर्खी पर झूल रहे थे।

प्रकाश ने अब विद्वान् और गृहस्थ होकर संसार में प्रवेश किया था। प्रकाश की स्त्री बड़ी सुन्दरी और सुशीला थी। कई वर्षों के बाद एक पुत्र भी हुआ।

बड़े आनंद से दिन कट रहे थे।

अन्नू भी सात-छः महीने में आती और कुछ दिनों के लिये मेहमान होकर चली जाती थी।

दैव की लीला! प्रकाश बीमार पड़ा, फिर रोगशय्या से न उठा। भरी जवानी में चल बसा! सब उसके लिये आँसू बहाते।

वह सरल था, नम्र था और होनहार था; इसीलिये उसका अभाव खटकता था।

२

बहुत समय बीत गया।

अन्नपूर्णा घर आई थी। कार्तिक मास था। चाची अब बहुत वृद्धा हो गई थीं; पर गंगास्नान करने जाया करती थीं। एक दिन अन्नपूर्णा उनके घर गई थी। विगत जीवन का वार्त्तालाप होता रहा।

चाची ने कहा—"अनू, तेरे साथ स्नान किए हुए कितने वर्ष हो गए—तुझे याद है ?"

अनू ने आह भरते हुए कहा—"वे दिन चाची, क्या भूलेंगे ? कितना मधुर समय था !"

"अच्छा, चल एक दिन मेरे साथ फिर स्नान तो कर ले। कल एकादशी है।"—चाची ने आश्वासन देते हुए कहा।

दूसरे दिन अन्नपूर्णा अपने भाई के लड़के अरुण को लेकर चाची के साथ स्नान करने गई। घाट अब भी वैसा ही था। आकाश-दीपक अब भी उसी तरह टँगे थे। गंगा-तट पर एक स्त्री दीप-दान के लिये सजाया हुआ दीपक बेच रही थी।

चाची ने सदा की भाँति दीप-दान के लिये दीपक ले

लिया। बालक अरुण आश्चर्य से पूछने लगा—"यह क्या है चाची?"

"दीप-दान के लिये दीपक है बेटा!"

"क्या होगा?"

"चलो देख लेना, गङ्गाजी में बहाया जायगा।"

अन्नपूर्णा मूर्ति के समान खड़ी थी। किसी पीड़ा ने कुछ देर के लिये उसके हृदय में डेरा डाला। उसका दम घुटने लगा। बड़ा साहस करके उसने भी एक दीपक लेते हुए कहा—"चाची, मैं भी दीप-दान करूँगी।"

स्नान करने के पश्चात् अनू ने दीपक का प्रवाह किया। अरुण कौतूहल से देख रहा था।

तारे आकाश से एक-एक कर नष्ट हो रहे थे। दीपक बड़े वेग से बहे जा रहे थे। अनू चुप थी, उसे दीपक की मलिन ज्योति से दिखलाई दिया—जैसे प्रकाश का छाया-चित्र आकाश की तरफ उठ रहा है।

सहसा अरुण ने आश्चर्य से कहा—"बुआ, वो देखो, तुम्हारा दीपक डूब रहा है।"

अनू ने देखा, दीपक दूर श्मशान के सामने तक पहुँच गया था और एक लहर ने दीपक को छिपा लिया।

दीपक का मंद प्रकाश श्मशान की अग्नि की लपटों में विलीन हो गया।

अन्नपूर्णा को चारों ओर प्रकाश-ही-प्रकाश दिखलाई दिया।



लीला

१

श्री ने हँसते हुए कहा—आज आपके गुप्त प्रेम का हाल मालूम हो गया।

"कैसा प्रेम ?"

"छिपा हुआ, जिसे आप नहीं जानते।"

मैंने श्री की तरफ देखते हुए कहा—बात क्या है ?—बतलाओ न।

"कुछ नहीं, लीला आज आपकी बड़ी प्रशंसा कर रही थी।"

"मुझमें कौन-सा गुण है, जिसकी कोई प्रशंसा करेगा ?"

"आपके आकर्षण-शक्ति की—"

"क्यों मेरा उपहास करती हो श्री ! मैं तो किसीकी तरफ़ देखता भी नहीं।"

"यदि आपकी तरफ़ कोई देखे तो ?—"

"तो, मैं उसकी तरफ़ देखने की चेष्टा न करूँगा।"

"रहने दीजिए; ये सब आपकी कोरी बातें हैं।"

कुछ देर तक मैं विचार करने लगा, फिर मैंने पूछा—वास्तव में बात क्या है श्री ? क्या तुम मुझे नहीं बतलाना चाहती हो ?

श्री ने कहा—क्या आज तक कभी कोई बात मैंने आपसे गुप्त रक्खी है ? बात यह है कि लीला आपको हृदय से प्यार करती है। आपको देखकर वह खिल उठती है। आपके दर्शन के लिये वह व्याकुल रहती है। वह आपकी आराधना करती है, उपासना करती है। किंतु आप उसे नहीं जानते।

श्री की बातें सुनकर मैं आश्चर्य-चकित हो गया। मधुर प्रेम की एक लहर ने मेरे हृदय को गुदगुदा दिया। मुझे विश्वास ही न होता कि लीला मुझे चाहती है।

लीला शांत एवं सुशील बालिका थी। उसका भोलापन देखकर किसीको भी यह ज्ञात न हो सकता था कि वह प्रेम की रोगिणी है। मकान के समीप होने के कारण कभी-कभी खिड़की से लीला और श्री की दो-चार बातें हो जाया करती थीं। दोनों में बड़ी घनिष्ठता थी, अतएव मुझे श्री की बातों का विश्वास करना ही पड़ा।

अब प्रतिदिन लीला का कार्य मेरी समझ में आने लगा। वह प्रायः छत पर बैठी रहती थी। संयोग से यदि मेरा उसका सामना हो जाता, तो वह लज्जा से हट जाती थी; किंतु कई बार मैंने लीला को अपनी तरफ़ देखते हुए पाया था।

श्री ने एक दिन पूछा—अब आप चिंतित क्यों रहते हैं? क्या लीला के प्रेम ने विकल किया है?

मैंने कुछ उत्तर न दिया। श्री ने भी आगे कुछ कहना-सुनना उचित न समझा।

२

उस दिन संध्या-समय लीला की एक झलक दिखाई दी। अभी तक तो मैं लीला को देखकर आँखें नीची कर लेता था, किंतु श्री के वार्तालाप से बड़ा साहस हो गया था; अतएव मैंने खुली आँखों से उसकी तरफ़ देखा। वह

भी मेरी तरफ़ देख रही थी। आँखें चार हुईं। लीला आकाश की तरफ़ देखती हुई फिर गई। मैं भी अपनी राह लगा। इसी तरह प्रायः मेरी और लीला की भेंट हो जाया करती थी।

दिल में जलन बढ़ गई थी। यदि एक दिन भी लीला को न देख पाता, तो विकल हो उठता। अब मेरी रात आँखों में कटने लगी। लीला के प्रेम की तरंगें हृदय में उथल-पुथल मचा देती थीं। मैं यह भली प्रकार जानता था कि लीला का और मेरा प्रेम बड़ा भयंकर होगा, स्थायी न रह सकेगा; कारण—मेरा विवाह हो चुका था। श्री मुझे बहुत चाहती थी। लीला के साथ प्रेम कर श्री के साथ विश्वास-घात करना और समाज में कलंकित होना पड़ेगा। किंतु मैं फिर भी अपनेको सँभाल न सकता, लीला को देखने की इच्छा मन से हटा न सकता था। समय पर हम एक-दूसरे को देख लेते थे।

श्री अब दुःखी रहा करती थी। वह मेरे स्वभाव से खूब परिचित थी, अतएव अब उसे भी विश्वास हो चला था कि मैं लीला से प्रेम करता हूँ। अब वह मुझसे लीला के संबंध में कुछ न कहती और मैं भी उसके सम्बन्ध में उससे कुछ न पूछता था। इसी तरह कई मास बीत गए।

२

अब लीला दुर्बल हो गई थी। दिन-प्रति-दिन उसका शरीर सूखा जा रहा था। धीरे-धीरे चेहरा भी मुरझा रहा था। उसकी दशा देखकर मेरा दुःख बढ़ने लगा, किंतु करता ही क्या ? विवश था।

उस दिन मेरे घर देव-पूजा थी। श्री ने लीला को भी निमन्त्रण दिया था। लीला आई। मेरे हृदय की विचित्र गति हो गई। मुझे इतनी भी सुध न रही—मैं कहाँ हूँ, क्या करता हूँ ! मैं बार-बार श्री के पास आता, ताकि लीला को भर-आँख देख लूँ। श्री समझ गई। वह लीला को बहलाते हुए मेरे कमरे के समीप ले आई। मुझे यह मालूम नहीं था। मैं योंही कमरे के बाहर निकला—देखा, लीला और श्री बातें कर रही हैं। लीला मुझे देखते ही लज्जा से जमीन में गड़ गई। श्री ने कहा—बहन, लज्जित क्यों होती हो ? उनसे क्या छिपाव है ? वे बड़े सीधे हैं, बड़े साधु पुरुष हैं; किसीकी तरफ आँख नहीं उठाते !

मैं श्री का व्यंग्य समझ गया। कुछ कहना चाहता था, पर साहस न हुआ। कुछ देर तक चुप रहा। फिर मैंने मुस्कराते हुए कहा—श्री, तुम्हारे साथ यह कौन है ?

तत्काल श्री ने कहा—आपकी हृदये......।

किंतु लीला ने श्री का हाथ दबा दिया और भौंहें चढ़ा लीं।

मैंने कहा—श्री, तुम ऐसी बातें क्यों करती हो ?

श्री ने कहा—केवल आपकी प्रसन्नता के लिये।

कुछ देर बाद लीला अपने घर चली गई। चलते समय लीला ने श्री से कहा—उनसे मेरा प्रणाम कह दो।

श्री ने कहा—तुम्हीं कह दो न।

लीला ने दोनों हाथ जोड़ दिए।

मैंने सिर झुकाकर उसका प्रेमाभिवादन स्वीकार किया।

उसी दिन लीला मेरी आँख बचाकर अपने अंचल में मेरे हृदय को बाँधकर ले गई।

मैंने श्री से कहा—"तुम्हें अपनी चीज यों ही फेंक देते हुए डर नहीं लगा, दुःख नहीं हुआ ?"

मैं भयभीत था कि यह हँसी कहीं आतंक न हो।

श्री ने हँसकर कहा—"चीज तो मेरी ही है। सँभाली चाहे कोई ले जाय, कुछ हानि नहीं; परंतु 'अपना' कहने का दूसरे को अधिकार न होना चाहिए।"

प्रतीक्षा

१

वह एक स्वप्न था। नदी-तट की निर्जनता थी। संध्या मुस्करा रही थी। उसकी गोद में बैठा हुआ मदन स्वप्नों पर सोने की कूची फेर रहा था। इतना ही उसका आकर्षक परिचय था। वह वहाँ बैठकर कुछ पंक्तियाँ लिखता और पास ही के एक लता-भवन में, संसार की दृष्टि से छिपकर, अस्फुट शब्दों में उन्हें गाया करता था।

इसी गाने पर सुन्दरी एक दिन मुस्कराकर चली गई थी। उसकी आँखों में गर्व था और चाल में मादकता।

मदन ने सुंदरी के इस भाव को देखा, सराहा भी किंतु समझ नहीं सका। उसकी कल्पना का संसार नए रूप से नींव रखने लगा। परन्तु लालसाओं पर उसका अधिकार नहीं था। वह दरिद्र था और सुन्दरी राजकन्या

एक दिन सुन पड़ा, मदन को राज्य की सीमा के बाहर निकल जाने की आज्ञा हुई है। अपराध का पता नहीं चला।

२

राजकुमारी को मदन का कुछ भी ध्यान न रहा। मदन चला गया। प्रेमोन्माद और वेदना बढ़ने लगी। कविता की गति बदलने लगी। भावों का उत्तरोत्तर विकास होने लगा। घायल हृदय के उच्छ्वास और भी गर्म हो हो चले।

सरिता-तट पर निर्जन वन के हृदय से जब प्रतिध्वनि उठती तो उसकी सुरीली तान उसे स्मृति की गोद में बिठा देती थी। उस समय वह अपनेको भूल जाता था। यही उसका सुख था।

दिन आते और चले जाते। हृदय में एक विचारधारा आती और बह जाती थी, और संसार के तट को एक

ज़ोर का धक्का लगाकर संसार की नश्वरता की कुछ मिट्टी बहा देती थी।

अब उसके बाल सफ़ेद होने लगे। शरीर शिथिल हो चला।

३

राजकुमारी तारा का जीवन शांतिनगर के राजा के प्रेम-सुख में बीतता रहा।

दो युग बीत गए!

अब राजकुमारी एक वह रंगस्थली है, जिसके यौवन का नाटक समाप्तप्राय और एक विगत गौरव की छाया-स्मृति है। और, मदन अब संसार की वह संपत्ति है, जो नित्य नवीन रहती है—वह कवि है, जो विश्व के हृदय में सदा ही सजीव और सचेष्ट है।

अब उसे और कोई आशा नहीं थी। केवल जन्मभूमि की स्मृति से उसका आकर्षण कभी-कभी असह्य हो उठता था। वह चाहता था, उस माति के हृदय पर अपनी पूर्णता को ख़ाली करे, कुछ शांति पावे।

शांति-नगर के राजा का निमंत्रण आया।

कवि उस नगर में गया। चारों ओर हर्षोल्लास का सागर उमड़ रहा था। तारा तक कवि की प्रशंसा पहुँच चुकी थी।

कवि ने इतने दिन संसार के रहस्यों के ही गीत गाए थे। छिपी सौन्दर्य-श्री की तलाश थी।

उसकी आँखों में तेज था। उसका व्यक्तित्व अजेय था। अतीत की व्याकुलता और निराशा की चिरशून्यता झलक रही थी।

उस दिन महाराज की ओर से सभा हुई। मंच पर कितनी ही आँखों ने उसे देखा। बार-बार अतृप्ति की उत्सुकता में भर-भर कर कितने ही अपरिचित हृदय उसके परिचय से प्रसन्न थे। उसकी वाणी सभा में विजयी हुई। लोगों ने कहा—यह देवता है।

४

कवि एक दिन राजा के बाग़ में झील के किनारे टहल रहा था। पार की घनी हरियाली जैसे चुपचाप उससे कुछ कहना चाहती हो, यह समझकर उसके निराश प्राणों में सजीवता आ जाती। वह गाता, झील की लहरें उसपर ताल दे-देकर उसका समर्थन करतीं। वह सुनता, समग्र वायु-मंडल में उसके गीत गूँजते रहते।

उसकी आँखें पीछे फिरीं। उसने देखा, राजमहल में एक स्त्री अपने बच्चों को खेला रही है। देखा, उसके यौवन

की समाधि पर लावण्य आज भी उसका सहचर है। बार-बार देखा। स्मृति ने उससे कहा—"हाँ, यह वही राजकुमारी तारा है।"

वह बड़े स्नेह से बच्चों को खेला रही थी। उनकी हँसी के साथ वह भी हँस पड़ती थी। कवि ने देखा, अब अधरों पर उषा की लाली नहीं है; वहाँ है अँधेरी संध्या के प्रकाश की धुँधली रेखा! उसने मन-ही-मन कहा—हाय, मैं इसके अरुण यौवन के गीत न गा सका!"

५

एक दिन तारा के हृदय में भी कवि के दर्शन की श्रद्धा उत्पन्न हुई। बच्चों के साथ वह कवि की कुटी पर पहुँची। देखते ही कवि उसे पूर्व-परिचित-सा जान पड़ा। उसने आँखें नीची कर लीं, कवि को प्रणाम किया।

तारा ने पूछा—"आपका जन्मस्थान?"

"प्रेमनगर।"

"प्रेमनगर?"—तारा सोचने लगी।

कवि के मस्तक पर पसीने की बूँदें झलकने लगीं। वह थोड़ी देर के लिये चुप हो गया।

तारा स्मृति-सागर में डूब गई। उसके हृदय पर धीरे-

धीरे पूर्व-काल की घटनाओं की छाया पड़ने लगी। उसने मन-ही-मन कहा—"यह मदन तो नहीं है ?" सारा वायु-मंडल घहरा उठा—"यह मदन तो नहीं है ?

कवि की दृष्टि में तारा का प्रेम अब कपोलों पर सूखे आँसू की तरह दिखलाई देता था।

तारा ने धीमे स्वर में कहा—"उस समय मैं आपको नहीं पहचान सकी थी। आपके गीतों का मूल्य नहीं समझ सकी थी। क्या अब आप नहीं गाते ?"

"अब सरिता की धारा में वेग नहीं है।"

कवि ने एक बार आकाश की ओर देखा—"धुँधली संध्या थी !"



गायक

संगीतज्ञों की सभा थी। बड़े-बड़े संगीत-कला के गुणी लोग एकत्र हुए थे। फूलों की माला, तोरण और वंदनवार से सभा का मंडप सुशोभित हो रहा था। उस दिन सबमें उत्साह था।

सबने बड़ी निपुणता से अपना-अपना कौशल दिखलाया। गुणियों की प्रतिद्वंद्विता चल रही थी।

आचार्य अपनी वीणा बजाने लगे। सब मंत्र-मुग्ध हो गए। प्रकृति शांत हो गई। पत्तों की खड़खड़ाहट बंद हो गई थी। वायु की गति शिथिल हो रही थी। सबने प्रशंसा

की । वाह-वाह की ध्वनि से सभा गूँज उठी । आचार्य हँस पड़े, विजय की प्रसन्नता थी ।

सबके बाद वह उठा । वह गायक था । वाद्ययंत्रों की स्वर-लहरियों ने उसे उत्तेजित कर दिया । वह सँभल न सका । कुछ गुनगुनाने लगा । कुछ देर बाद उसने करुण कोमल स्वर से एक तान ली । उसकी तान में दर्द था ।

आचार्य ध्यान से देखने लगे । वीणा बजाना बंद कर दिया । आगंतुक ने बिना आज्ञा के यह धृष्टता की थी । आचार्य ने द्वारपाल की ओर उसके शासन के लिये संकेत किया । किंतु गायक की तान ने सबको चकित कर दिया । सब बेसुध हो गए । आचार्य ने वीणा फेंकते हुए कहा—यह क्या ?

ऊँचे मंच पर राजा के पास ही राजकुमारी बैठी थी । अपनी मुक्तावली गायक की ओर फेंकते हुए उसने कहा—"अद्भुत सुंदर गाया !"

अब तो आचार्य अप्रकृतिस्थ हो गए । उनके मुँह से निकल पड़ा—"तुम श्रेष्ठ कवि हो, तुम सच्चे गायक हो, और तुम्हीं संगीत के आचार्य हो !"



चित्रकार

चित्रकार बैठा था। कोई काम उसके हाथ में न था। वह दाने-दाने के लिये तरसने की तैयारी कर रहा था; परंतु कलावन्त था, उसे कुछ परवा न थी।

उसकी चटाई पर चित्र-लेखन की सामग्री बिखरी थी। वह सोचता था—कोई तो आवेगा ही। हुआ भी ऐसा ही। एक सुन्दरी स्त्री आई। उसने पूछा—"घन-श्याम चित्रकार तुम्हारा ही नाम है ?"

"हाँ"—कहकर चित्रकार उस रस-भरी मेघमाला को देखने लगा।

"क्या मेरा एक चित्र बना दोगे ?"

"बन सकेगा ?—मुझे तो आशा नहीं।"

"चेष्टा कर देखो। परन्तु मैं बैठकर शबीह न लगवाऊँगी।"

"नहीं, उसकी तो कोई आवश्यकता नहीं। परन्तु मैं ऐसा सुन्दर चित्र बना सकूँगा या नहीं, मुझे तो संदेह है।"

"तुम बना सकोगे"—कहकर सुन्दरी ने मुस्करा दिया। एक पत्र दिया, कहा—"बनाकर इसी पते से ले आना।"

वह चली गई।

दरिद्र चित्रकार ने, जिसके पास खाने को भी न था, कुछ खर्च के लिये नहीं माँगा। वह चुपचाप कल्पना से क्षितिज पर सुन्दरी का चित्र बनाने लगा।

स्वर्णमयी उषा के आगमन के साथ ही चित्रकार अपनी शय्या छोड़ देता। वह एकान्त स्थान में बैठकर प्रकृति के सौन्दर्य को देखता। सूर्य का उदय, पूर्व-दिशा की लालिमा, हरे-हरे वृक्ष और पर्वतों की श्रेणियों को देखता तथा पक्षियों का गान सुनता।

वह ध्यान में लीन रहता। सूर्य आकाश में ऊपर चढ़

आता, सूर्य का प्रकाश उसके ऊपर पड़ता, वह सहन न कर सकता, उसका ध्यान टूट जाता। वह अपनी कुटिया में आकर कुछ बनाने लगता। कभी-कभी बसंत का पवन उसकी कुटिया में सूखी पत्तियाँ लाकर फेंक जाता, वह उन्हें उठाकर देखने लगता, फिर चित्र बनाने लगता। कभी-कभी वह गुनगुनाने लगता। विकल होकर कभी कुटिया के बाहर आकर आकाश की तरफ़ देखता, और कुछ सोचने लगता। अपने विचार से जब उसका ध्यान हटता, तब वह देखता, भगवान् भास्कर आकाश से बिदा हो रहे हैं; उनकी अंतिम किरणों की आभा आकाश में सफ़ेद-सफ़ेद बादलों के पंखों पर सुनहली चित्रकारी कर रही है—आकाश का रङ्ग कभी नीला हो जाता, कभी लाल, और कभी सब रङ्ग एक ही रूप में दिखलाई देते।

वह बैठ जाता। चुपचाप प्रकृति की लीला देखता जाता। गोधूली का पहला तारा उसे दिखलाई देता; वह कहता—"यह भी अपूर्व लीला है—सब तारे एक साथ क्यों नहीं निकलते ?" वह बड़े ध्यान से ऊपर देखता—मानों तारा कह रहा हो—'मेरा भी चित्र बना सकोगे ?"

जो कुछ वह देखता, मानों सब कहते—"हमारा भी चित्र

बना दो !" किंतु चित्रकार कहता—"नहीं, तुम्हें देखने से मेरे हृदय में कुछ शांति अवश्य मिलती है; पर तुम्हारा चित्र बनाकर मैं अपने हृदय में शांति का राज्य स्थापित न कर सकूँगा। मेरे अंतःपटल पर मेरे अतीत का जो दृश्य अंकित है—जिसके लिये मैं रुदन करता हूँ, विलाप करता हूँ—उसीका चित्र बनाऊँगा। तुम्हें तो सभी प्रत्यक्ष देखते हैं; पर मेरे अतीत को कौन देख रहा है ? मैं चित्रों द्वारा उसे दिखाऊँगा।"

दिन-पर-दिन बीतने लगे। चित्रकार केवल चित्रकार ही न था, वह कुशल कवि भी था। कभी-कभी वायु के साथ वह गान भी करता।

चित्रकार का न कोई मित्र था, न साथी। उस निर्जन स्थान में वह एकांत-वास करता था। संसार के मायाजाल से वह अलग था। वह पुस्तकें पढ़ता, चित्र बनाता और विचार करता। इतने ही में उसका सारा समय बीत जाता। इसीमें उसे शांति मिलती।

उसके पास एक अमूल्य वस्तु थी, वही उसकी संपत्ति थी। उसे वह बड़ी सावधानी से रखता था। वह था—

उसका प्रेम-पत्र! कभी-कभी रजनी में वह दीपक के प्रकाश में उसे पढ़ता था। पढ़कर रोता, फिर हृदय से लगा लेता।

बहुत दिनों के बाद—

चित्रकार का चित्र बन चुका था। शीतल मलय पवन के एक झोंके ने कुटिया का द्वार खोल दिया। उसकी दृष्टि चारों तरफ़ दौड़ने लगी। उसने देखा, आकाश के मध्य में सूर्यदेव आ गए हैं। अब उसके मुख पर शांति और सन्तोष था, वह विकलता नहीं थी। करुणा ने अब ज्ञान का रूप धारण कर लिया था। वह चुपचाप बैठा था। चित्र तैयार था।

द्वार पर कुछ शब्द हुआ। चित्रकार आश्चर्य से उस तरफ़ देखने लगा। किसीने पूछा—"क्या मुझे पहचानते हो?"

चित्रकार ने कहा—"न......हाँ...।"

"क्या वे दिन भूल गए?"

"कुछ-कुछ।"

"क्या रोने के दिन बीत गए?"

"हाँ।"

"अब देखने से मालूम पड़ता है, तुम एकदम बदल गए!"

चित्रकार ने बड़े मधुर शब्दों में कहा—"जो पहले ग्लानि और चिंता थी, वही अब शांति के रूप में हृदय में वास करती है। जो प्रेम था, वह ज्ञान के रूप में परिणत हो गया है।"

दोनों एक दूसरे को देख रहे थे।

चित्रकार ने फिर कहा—"एक बोझ अभी तक हृदय पर है, आज वह भी दूर हो जायगा।"

इतना कहते हुए उसने वह चित्र और पत्र निकाला। वह एक बार चित्र की तरफ़ देखता, और एक बार उसकी तरफ़। दोनों चुपचाप खड़े थे। चित्रकार ने पहले उसे पत्र दिया। उसने उसे देखकर कहा—"यह तो मेरा ही लिखा हुआ है।"

चित्रकार ने "हाँ" कहते हुए उसके हाथ में चित्र दे दिया। तब उसने कहा—"यह तो मेरा ही चित्र मालूम पड़ता है।"

चित्रकार बड़े ध्यान से उसकी तरफ़ देखने लगा।

उसने कहा—"हाँ। इसे बनाकर ही मुझे शांति मिली है। और, अब अंतिम मिलन है। मैं जाता हूँ।"

इतना कहकर उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही चित्रकार देखते-ही-देखते न-जाने कहाँ चला गया!



पगली

१

"पगली, ओ पगली !—पगली रे ! हः-हः-हः-हः, पगली है ! पगली !"—कहते हुए बालकों का झुंड पगली के पीछे दौड़ रहा था।

चलते-चलते पगली एक जगह खड़ी हो गई। एक लड़के ने दूर ही से पगली की ओर एक पत्थर फेंककर कहा—पगली रे ! ओ पगली !!

पगली चोट खाकर उछल गई। उसने भयंकर रूप बनाकर कर्कश स्वर में कहा—"दूर—दूर—ह—ट"—कहते हुए वह लड़कों के पीछे दौड़ी। लड़के भाग चले।

लड़कों से पीछा छुड़ाने के लिये पगली एक घर में घुस गई। भीतर से किसीने कहा—मारो—मारो—पगली आई पगली। एक आदमी ने पगली को मारते हुए घर से बाहर निकाल दिया।

चोट के कारण पगली के शरीर में कई जगह घाव लग गए थे। उसने आकाश की ओर देखते हुए कहा—ओ—ओ! देखो, देखो, आकाश फट पड़ा है, पृथ्वी जल रही है—चारों तरफ़ आग लगी हुई है। देखो—देखो, आग—आग।

चलते-चलते पगली एक विशाल भवन के सामने जाकर खड़ी हो गई। मकान की ओर देखकर उसने कहा—"यह ऊँचा मकान भी एक दिन गिर जायगा।" कहकर वह नाचने लगी। कभी उँगलियाँ चमकाकर कहती—"एक दिन मैं ही सारी दुनिया की रानी बनूँगी, ऐसे-ऐसे सैकड़ों मकान बनवाऊँगी, उनमें झूला डालकर झूलूँगी—हः-हः-हः-ह, झूलूँगी—खूब झूलूँगी।" कभी मुँह बनाकर कहती—"न झूलूँगी, उहुँः! न झूलूँगी। एक दिन मेरा मकान भी गिर जायगा, तब?"

२

पगली की अवस्था ५० वर्ष से कम न थी। उसके

शरीर का सारा मांस सूख गया था, हड्डियों की ठठरी रह गई थी; फिर भी उसके मुख पर बड़ा तेज था। अरुण आभा से उसका मुखमंडल प्रदीप्त हो रहा था!

पगली कहीं चली जा रही थी। एक मनुष्य ने निर्भीकता से उसका हाथ पकड़कर कहा—आज भटकते-भटकते इधर कहाँ चली आई हो?

उसने हाथ खींचकर कहा—छोड़ो, छोड़ो, मुझे बहुत दूर जाना है। छोड़ो, छोड़ते क्यों नहीं? हटो, मेरी राह छोड़ो......।

उसने पगली का हाथ छोड़ते हुए कहा—आज कुछ खाया है या नहीं?

पगली ने उसकी तरफ़ देखते हुए कहा—भूख, भूख, भूख!

उसने एक दूकान से कुछ खरीदकर पगली को खाने को दिया।

पगली एक जगह बैठकर खाने लगी।

एक राह-चलते ने पूछा—भाई, यह पागल कैसे हो गई? देखने से अच्छे घर की मालूम पड़ती है।

उसने कहा—"इसका मकान हमारे पड़ोस में था। बड़े धनी घर की थी, बाल-बच्चों से घर भरा-पूरा था। दैव की माया! कराल काल ने अपनी कुटिल चाल से इसका सब कुछ नष्ट कर दिया। अब न तो कोई इसके आगे है और न पीछे। ग्लानि और चिंता से यह पागल हो गई है। भीख माँगकर अपना दिन काटती है। मुझको पहले यह बड़ा मानती थी, अब पहचानती तक नहीं।"

बात कहते-कहते वह चला गया।

पगली राह में सो गई थी। एक राह-चलते ने उसे ठोकर मारते हुए कहा—हट—हट—हट यहाँ से भाग जा।

पगली उठी और आगे बढ़ी।

२

दिन-पर-दिन बीतने लगे। अब पगली को देखकर लोग डर जाते थे।

एक दिन पगली कहीं से आ रही थी—सामने हल-वाई की एक दूकान दिखाई पड़ी। वह दूकान पर चढ़ गई। दोनों हाथों में मिठाइयाँ लेकर चली। चलते समय दूकान-दार ने पगली को एक हाथ कसकर मारा। बेचारी गिर पड़ी। कुछ देर बाद वह उठी। खाते हुए चली गई।

कुछ लोगों ने कहा—पगली को पागलखाने में भेज दिया जाय।

एक मास हो गया।

अब पगली चल नहीं सकती। मार पड़ते-पड़ते उसकी देह बहुत कमज़ोर पड़ गई थी। वह ज्वर के प्रकोप से सड़क की एक पटरी पर पड़ी हुई थी। रह-रहकर कराह रही थी। उसके चारों तरफ़ भीड़-सी लग गई थी।

उसी भीड़ में से एक ने कहा—राम का नाम ले पगली! पगली ने तीव्र ध्वनि में कहा—"राम! राम! राम! राम! वह देखो, राम आए और चले गए! पकड़ो-पकड़ो! देखो, वह जा रहे हैं।"—कहते-कहते पगली ने आँखें बन्द कर लीं।

ठीक उसी समय पुलिस के दारोग़ा, सिपाहियों को लेकर, पगली को पागलखाने भेजने के लिए आए। किंतु उनके आने से पहले ही, पगली की आत्मा, पागल संसार को छोड़कर, सदा के लिए कहीं चली गई थी!



मोह

१

रम्मू तीन वर्ष का हो चुका था। अब वह अपनी तोतली भाषा में कुछ बोल भी सकता था। बूढ़े बिहारीलाल को उससे बड़ा स्नेह था। रम्मू भी उन्हें अपना खिलौना समझता था। प्रातःकाल उठते ही रम्मू बिहारी के कमरे का द्वार खटखटाकर कहता—बाबा, उत्तो !

रम्मू की पुकार से बिहारीलाल को उठना ही पड़ता था।

२

बिहारीलाल ने सरकारी नौकरी में ही अपने सिर के

बाल पका दिए थे। इस समय उनकी अवस्था ६० वर्ष की थी। नौकरी से पेंशन लेकर वह अपने जीवन का शेष समय, रम्मू के पिता के मकान में किराए पर एक कमरा लेकर, व्यतीत कर रहे थे। रम्मू का उनका दिन-रात का साथ था।

रम्मू अक्सर बिहारीलाल की पीठ पर सवार होकर बाजार घूमने जाता। बूढ़े के बिना न रम्मू को चैन और न रम्मू के बिना बूढ़े को।

रम्मू बिहारीलाल की बहुत-सी चीजें नष्ट कर देता। उसने उनकी बहुत-सी पुस्तकों पर पेंसिल से चिन्ह बना-बनाकर रँग डाला था, उनके कमरे की दीवारों पर सैकड़ों रंगीन लकीरों से चित्रकारी कर दी थी; किन्तु बिहारीलाल कुछ न कहते थे। रम्मू की इन क्रियाओं में बाल्य-कला-कुशलता देखकर वह मन-ही-मन मुस्कराते थे।

जब कभी रम्मू की माँ उसे मारती, वह रोता हुआ बिहारीलाल के पास जा पहुँचता। वह उन्हें ही अपने दुख-सुख का साथी समझता था।

बिहारीलाल के कोई संतान न थी—पर, रम्मू के क्रीडा-कौतुक में तन-मन की सुध भूल जाने से उन्हें यह अभाव कभी

खला नहीं। रम्मू को देखते ही वह कभी-कभी कह बैठते—देखो, वह स्वर्ग का हँसता हुआ खिलौना मेरे पास आ रहा है।

२

रम्मू अब पाँच वर्ष का हो गया था।

एक दिन रम्मू की माँ और बिहारीलाल की स्त्री में खटपट हो गई। बात यहाँ तक बढ़ गई कि रम्मू के पिता ने बिहारीलाल को मकान छोड़ देने के लिये कह दिया।

बिहारीलाल बड़े संकट में पड़े। वे सोचते—हाय, मेरा कलरव-मय सुखमय बसेरा अब किस पाप से छूट रहा है भगवन्!

पर उनकी स्त्री मकान छोड़ देने की शपथ खा चुकी थी। संध्या का समय था। बिहारीलाल अपने कमरे में उदास बैठे थे। रम्मू ने कहा—"बाबा, क्या करते हो?"

"कुछ नहीं रम्मू, अब तो तुम्हारा साथ छूट जायगा!"

"क्यों?"

"तुम्हारे पिता की आज्ञा है कि मकान छोड़ दो।"

"तो अब कहाँ जाओगे बाबा?"

"जहाँ ईश्वर ले जायगा बच्चा !"

४

ठीक उसी समय रम्मू की माँ ने उसे पुकारा।

अपनी माँ की तीव्र ध्वनि से रम्मू समझ गया कि मुझसे कोई ऐसा अपराध हो गया है, जिसके दंड के लिये अम्मा बुला रही हैं।

डरते-डरते वह माँ के पास पहुँचा। पीठ पर एक धमाका लगाते हुए माँ ने कहा—उस बुड्ढे के यहाँ मत जाया कर !

बालक ने सिसकते हुए पूछा—क्यों अम्मा ?

"मैं कहती हूँ।"

"बाबा बड़े अच्छे हैं, बाबूजी उनको क्यों निकाल रहे हैं ?"

"एक बार कह दिया—अब बाबा के यहाँ जाओगे तो मार खाओगे।"

रम्मू की समझ में कुछ न आया। मार खाने के भय से वह आगे कुछ न पूछ सका।

बिहारीलाल के कानों में ये बातें पड़ गईं। उनके नयनों की निर्झरिणी बह चली।

उनकी स्त्री ने कहा—"देखा, बच्चे का क्या दोष था जो उसे मारा। हम लोगों के कारण ही तो उसे मार खानी पड़ी। अब कल ही मकान छोड़ दो।"

बिहारीलाल मन-ही-मन सोचने लगे—यदि आज ईश्वर ने मुझे भी एक प्यारा बच्चा दिया होता तो उसपर मेरा पूर्ण अधिकार होता। रम्मू दूसरे का बालक है, उस-पर मेरा क्या चारा ? हाय, रम्मू का साथ तो छूट जायगा, अब 'बाबा' कहकर मुझे कौन पुकारेगा ? अब मेरी आँखों की ज्योति किसे देखकर दुगुनी होगी ? मेरे तन-मन किसे देखकर खिलेंगे !

बिहारीलाल ने वह मकान छोड़ दिया।

कई दिन तक दूसरे मकान में रहे, किंतु उस मकान की दीवारों पर न तो रम्मू के हाथ की रङ्गीन लकीरें थीं और न कोई स्वर्गीय कलरव। हाँ, कमरे की नीरस निस्त-ब्धता में कभी-कभी उनके आँसुओं का उज्ज्वल कम्पन मोतियों की तरह चमकता हुआ दिखलाई पड़ता था।

अन्त में वह शहर छोड़कर चले गये। उन्होंने कहा—"यहाँ रहूँगा तो रम्मू के देखने की इच्छा को न रोक

सकूँगा। यहाँ न रहूँगा तो फिर क्या ? कुछ शांति अवश्य मिलेगी।"

५

बहुत समय बीत गया। अब बिहारीलाल का समय ईश्वर की आराधना में ही लगता था।

हरिहरक्षेत्र का मेला था। बिहारीलाल स्नान करके हरिहरनाथ महादेव के दर्शन करने जा रहे थे। सहसा उनकी दृष्टि एक तरफ़ को चली गई। उन्होंने देखा—यह क्या ! रम्मू की तरह एक बालक कुछ दूर पर खड़ा दिखाई पड़ा !! उनकी आँखों की तृष्णा बढ़ गई। वह खड़े-खड़े कुछ सोचने लगे। क्षण-भर बाद उन्होंने वहीं से कुछ सुन्दर खिलौने खरीदे।

रम्मू का किशोर स्वरूप उन्हें और भी आकर्षक प्रतीत हुआ। बड़े साहस से वह उसके सामने आकर खड़े हो गए, और खिलौने देते हुए कहा—अच्छे हो बच्चा ?

वह विस्मित नयनों से उनकी ओर देखने लगा। उसकी आँखों में जिज्ञासा मँडराने लगी।

"मैंने आपको नहीं पहचाना, आप कौन हैं ?"—कहते हुए वह आगे बढ़ा।

बिहारीलाल कुछ उत्तर न दे सके, उनके हाथों से खिलौने छूटकर गिर पड़े !



उत्कंठा

१

जाह्नवी के उस पार एक मनोहर उपवन था, गंगा का पिता उसमें माली था।

गंगा नित्य उपवन के फूलों को चुन-चुनकर माला गूँथती और उसे अपने ही गले में डालकर आनंद-मग्न हो जाती थी। वह प्रायः उपवन की क्यारियों को अपने कोमल हाथों से साफ़ करती और उसका पिता उनमें पानी बहाकर उपवन को सींचा करता था।

२

गंगा का जीवन यौवन की लहरों में बह रहा था। वह

नित्य प्रभात में फूलों के अधरों पर बैठे हुए मधुप का 'गुन-गुन-गुन-गुन' प्रेम-संगीत सुनती, फूलों को झूमते हुए देखती; तब उसका भी हृदय आप-ही-आप किसीको खोजने लगता। वह गद्गद हो जाती।

उसके पास हृदय था, किंतु रूप नहीं!

ईश्वर ने उसका एक अंग भी सुंदर नहीं बनाया था।

वह जिस समय फूलों को चुनती, उस समय यदि कोई उड़ता हुआ भ्रमर उसके सम्मुख आ जाता, तो वह कहती—दुर हो निष्ठुर! तू चार दिनों के लिये खिले हुए फूलों की सुंदरता पर रीझकर, उनका मधु पान कर, उन्हें बड़ी निर्दयता से छोड़ देता है; स्वार्थी! दुर हो यहाँ से।

वह नित्य अपनी आँखें उपवन की राह में बिछा देती। उस राह से कितने ही पथिक आते-जाते, उसका हृदय उछल पड़ता; किंतु वह उनकी आँखों में रुखाई देखकर निराश हो जाती। एक लम्बी साँस खींचकर फूलों की ओर देखने लगती

२

निशा-सुन्दरी फूलों के अधरों पर अपने चुम्बन के सैकड़ों चिह्न छोड़कर बिदा हो चुकी थी। सूर्य की सुन-

हली किरणों के आलिंगन से वे धीरे-धीरे अपनी अलसाई आँखें खोल रहे थे। इसी समय गंगा ने देखा—उपवन के द्वार पर दो आगन्तुक खड़े हैं। एक वृद्धा स्त्री थी और दूसरा नेत्रहीन युवक था।

गंगा ने वृद्धा की तरफ़ देखते हुए कहा—आप किसे खोज रही हैं ?

वृद्धा ने कहा—किसीको नहीं। थक गई हूँ, इसी लिए यहाँ खड़ी हूँ।

"भीतर चली आओ"—गंगा ने नम्रता-पूर्वक कहा।

"माँ, बड़े ही मधुर शब्दों में यह किसने उत्तर दिया है ?"—नेत्रहीन युवक ने कहा।

"इसी उपवन में काम करनेवाली एक युवती है बेटा !"

* * *

दोनों ने उपवन में प्रवेश किया।

थोड़ी देर में गंगा का पिता भी आ गया।

उन्होंने वृद्धा से पूछा—कहाँ जा रही हो ? घर कहाँ है ?

"उस पार एक वाटिका की मैं मालिन थी, अब नौकरी छूट गई है, उसीकी खोज में निकली हूँ। यह मेरा पुत्र है। जन्म-काल से ही नेत्रहीन है।"

गंगा उन दोनों की तरफ़ सहानुभूति की दृष्टि से देख रही थी।

उसने पिता से कहा—"बाबा, इन्हें अपने यहाँ रख लो न, उपवन में बड़ा काम रहता है। हम लोग उसे पूरा भी नहीं कर पाते।"

गंगा के पिता ने वृद्धा से पूछा—"तुम मेरे यहाँ काम करोगी ?"

"हाँ, मैं और मेरा पुत्र नवल—हम दोनों ही आपके आज्ञानुसार काम करेंगे।"

"बहुत अच्छा"—गंगा के पिता ने कहा।

उसी दिन से अन्धा नवल और उसकी बूढ़ी माँ उपवन में रहने लगे।

४

सब से वर्ष की कितनी ही सुकुमार बालिकाएँ गंगा के उपवन में अपना नृत्य दिखलाकर विलीन हो गईं।

उस दिन छोटी-सी कुटी में एक दीपक टिमटिमा रहा था। उसीमें नवल की माँ रोगशय्या पर पड़ी हुई थी। नवल, गंगा और उसके पिता उदास बैठे हुए थे। एकाएक वृद्धा ने गंगा के पिता की तरफ़ करुणा दृष्टि से देखकर कहा—

"मैं कुछ कहूँ ?"

"हाँ, खुशी से।"

उसने नवल का हाथ उनके हाथों में थमाकर कहा—"मेरे बाद मेरी इस थाती की रक्षा कीजिएगा!"

उन्होंने गंगा का हाथ नवल के हाथों में देते हुए कहा—"कोई चिन्ता नहीं।"

उसी समय पवन के एक झोंके ने टिमटिमाते दीपक को बुझा दिया। उसीके साथ-साथ नवल की माँ का जीवन-प्रदीप भी सदा के लिये बुझ गया।

उस समय कुटिया में हर्ष और शोक—दोनों ही छा गया।

५

खिले हुए फूलों के साथ खेलनेवाली गंगा अब स्वयं प्रेम की क्यारियों में खिलने लगी। गंगा के पिता ने नवल का विवाह गंगा से कर दिया था।

गंगा की मीठी-मीठी बातें नवल के हृदय को गुद-गुदा देती थीं। वह आनन्द-मग्न होकर बड़े प्यार से उसे चूम लेता और वह भी गद्‌गद होकर अपनी बाहु-वल्लियों से उसकी ग्रीवा को घेर लेती थी।

नवल का हृदय खिल उठता था—

गंगा का हृदय और नयन—दोनों।

६

एक दिन नवल ने पूछा—"प्रिये, संसार कैसा है?"

"बड़ा ही सुंदर!"

"देखने की बड़ी इच्छा होती है। जी घबड़ा उठता है। एक बार आँखें खोलकर इस कोलाहलमय संसार को देखने की बड़ी अभिलाषा है।"

"क्या करोगे संसार को देखकर? वह केवल सुंदर ही नहीं, भयंकर भी है।"—गंगा को अपने रूप पर विश्वास नहीं था, उसका हृदय नवल की उत्कंठा से काँप उठा।

"इसमें कौन-सी सुंदरता है प्रिये!"

"सुंदरता? सुंदरता—इस पाप-ताप-पूर्ण कोलाहलमय संसार में नहीं, प्रकृति के राज्य में है प्रियतम! ऊपर लंबा-चौड़ा नीला आकाश फैला हुआ है, उसके वक्षस्थल पर करोड़ों चमकते हुए तारे, चंद्रमा और सूर्य चंचल गति से नाचा करते हैं। लोग कहते हैं, वहीं आकाश में स्वर्ग है। उस स्वर्ग के नीचे यह हमारी प्यारी वसुंधरा है, जिसकी गोद में बैठे हुए हम बातें कर रहे हैं। यहाँ पर

बग़ीचों में वसंत आता है, सैकड़ों फूल खिलते हैं, हवा महँक उठती है। यहाँ सैकड़ों पहाड़ हैं, जहाँ से नदियाँ नाचती, कूदती, हँसती, गाती हुई निकलतीं और हमें अपने साथ खेलने को बुलाती हैं।"

"तब तो संसार अवश्य देखना चाहिए प्रिये !"

"कैसे देखोगे प्रियतम ?"

"आह प्रिये ! इसी संसार में तुम्हारा मुख भी तो है, ईश्वर क्षण-भर को भी मेरी आँखें खोल देता तो उसे देखकर जीवन सफल कर लेता !"



खोज

निर्जन वन था और बीहड़ पथ !!

स्वर्णमयी संध्या आकाश को चूमकर चली गई थी। इस समय तरंगित नीलाम्बर में उज्ज्वल तारे निर्निमेष पलकों से सुधांशु की प्रतीक्षा कर रहे थे। पर उनका कुछ पता नहीं।

सुनसान अँधेरी रात थी। मैं रह-रहकर इधर-उधर देखने लगता और हृदय चिल्ला उठता—"अभी तो बहुत दूर जाना है।" निदान मैं थककर एक वृक्ष के नीचे बैठ गया। क्षण-भर विश्राम लेकर फिर चल पड़ा। सैकड़ों जुगनू आशा की स्वर्ण-ज्योति से चमककर मुझे प्रकाश दिखलाने

लगे। चारों तरफ़ झनझन-झनझन हो रहा था। मेरे पैर काँपते-काँपते जमीन पर पड़ते थे; मेरे भय की सीमा नहीं थी।

यह क्या! मैं जिस मार्ग से आ रहा था, वह एकाएक भूल गया, लौटना कठिन हो गया। पूजा की सामग्री मेरे हाथों में थी, उसे सँभाले हुए धीरे-धीरे आगे ही बढ़ चला।

अचानक किसीने पुकारा—"इस भीषण रजनी में अकेले कहाँ?"

मैंने फिरकर देखा, वह मेरे ही-जैसा कोई व्यक्ति था, पर उसके मुख पर शांति मुस्करा रही थी।

मैंने कहा—"मैं मार्ग भूल गया हूँ।"

उसने कहा—"कई वर्ष हुए, जब मैं भी पहली बार इधर ही आया था, तो मार्ग भूल गया था।"

"तो क्या आपको वह निर्दिष्ट स्थान प्राप्त हो गया?"

"हाँ, बड़ी साधना और आराधना के बाद।"

"सुना है, वहाँ पहुँच जाने पर मनोकामना पूर्ण हो जाती है!"

"हाँ।"

"तो मेरी भी मनोकामना पूरी होगी? मैंने तो उपासना में बहुत समय बिताया है।"

"जाओ, वहाँ पहुँचने पर ही तुम्हारी उपासना का निर्णय होगा।"

"अभी कितनी दूर जाना है?"

"थोड़ी ही दूर, इस नदी के उस पार।"

बातों से हृदय को साहस हुआ, पाँव जल्दी-जल्दी उठने लगे। मैं वहाँ पहुँच ही तो गया। उस तोरण, कलश और वन्दनवार से सुशोभित द्वार पर लिखा हुआ था—"प्रेम-मन्दिर"।

मेरे पहुँचते ही द्वार खुला, और मैं बेधड़क भीतर चला गया। पूजा समाप्त कर मैंने प्रेमदेव को साष्टांग प्रणाम किया।

उन्होंने प्रसन्न होकर कहा—"तुम्हें क्या चाहिए?"

मैंने कहा—"नाथ, केवल एक भिक्षा।"

उन्होंने कहा—"पहले तुम इस मन्दिर के सब पुजारियों से भेंट कर लो, फिर तुम जैसा चाहोगे वैसा ही प्रबन्ध होगा।"

प्रेमपुजारियों के दर्शन हुए। कुछ लोग ध्यान में निमग्न थे, कुछ आहें भर-भरकर आँसू बहा रहे थे। सभी का तन जर्जर और मुख पीला था। आँखों में विफलता बरस रही थी।

उन लोगों को दिखाकर प्रेमदेव ने पूछा—"क्या इस दल में मिलना चाहते हो ?"

मैंने कहा—"यदि शांति मिले, यदि प्रियतम का दर्शन मिले तो—"

उन्होंने कहा—"तुम अपने प्रियतम को पाकर सुखी न हो सकोगे। फिर लौटकर वापस आओगे; किन्तु यहाँ का नियम है कि दूसरी बार वरदान नहीं मिलता। खूब विचार कर लो।"

मैंने कातर कंठ से कहा—"स्वामिन्, कोई ऐसा वरदान दीजिए, जिससे हृदय को भीषण ज्वाला में पड़कर जलना न पड़े।"

उन्होंने कहा—"अच्छा, तो तुम जिसे चाहते हो, उसे पाने की अभिलाषा कभी मत करना, नहीं तो सब सुख चला जायगा। केवल आराधना करो, उपासना करो, इसीमें अक्षय सुख है।"

मैंने कहा—"जो आज्ञा"।



उस दिन ब्राह्म-मुहूर्त में मैं नदी-तट पर बैठा हुआ प्रेमोपासना कर रहा था। उस समय कनक-किरीटिनी उषा भी शायद किसीकी आराधना में लगी थी।

दूर से अचानक किसीके आने की आहट मिली। फिरकर देखा। देखता ही रहा। स्तब्ध हो गया। अवाक् हो गया। चकित हो गया।

एक कोकिल-कंठी ने कहा—"प्रियतम, तुम्हारी विकलता मुझे खींच लाई है। मैं तुम्हारी हूँ, मुझे स्वीकार करो।"

मैंने कहा—"प्रिये, मैं तुम्हें अब नहीं चाहता। तुमने व्यर्थ कष्ट किया—विलंब—अति विलंब!"

"फिर क्या मेरा ध्यान नहीं करते?"

"करता हूँ; किन्तु तुम्हें पाने की अभिलाषा पूरी हो गई, तुम्हें पा चुका। तुम लौट जाओ। क्षमा करो।"

सुन्दरी ने खिलखिलाकर कहा—"तुम पागल तो नहीं हो गए हो?"

"तो क्या तुम इस पागलपन को भी छीन लेना चाहती हो?"

"अच्छा, मैं फिर आऊँगी, तब तक तुम इसपर विचार कर लेना—"

उस दिन से मेरे ध्यान का रूप बदल गया। अब मैं यही सोचता हूँ कि वह आराधना की मूर्त्ति अब कब आवेगी!



स्वर्ग

१

"वाटिका में सैकड़ों फूल झूम रहे हों, सौरभ के भार से लदी हुई वायु धीरे-धीरे बह रही हो, चारों तरफ चाँदनी छिटकी हुई हो; उस समय मैं अपने सजीले भवन में गद्दे की स्प्रिंगदार शय्या पर लेटे हुए, अधखुली आँखों से स्वर्णकांतिमयी सुंदरियों का दल देखूँ।—और? और, देखूँ रुनझुन करते हुए उनका चंचल थिरकना। यही मेरी सौंदर्योपासना है।"

मैंने कहा—भाई मनोहर, यह सब धन की लीला है!

उसने कहा—हृदय का खेल है।

२

उस दिन पूर्णिमा थी। आकाश के नीले सरोवर में पूर्ण चन्द्र विकसित कमल की भाँति खिले हुए थे।

महीनों बाद मैं मनोहर से मिलने गया।

उसने स्वागत करते हुए कहा—अहा, आज बहुत दिनों पर आ तो गए।

"हाँ"—कहकर मैं बैठ गया।

थोड़ी देर तक बैठे रहने के बाद, मनोहर ने सामने के कमरे का रंगीन पर्दा धीरे से हटा दिया। आश्चर्य! उसकी पूर्व-कल्पना सचमुच आँखों के सामने प्रत्यक्ष हो गई।

बिजली की रोशनी से कमरा जगमगा रहा था। चारों तरफ़ सुगंधि उड़ रही थी। कितनी ही षोडशवर्षीया कामिनियाँ नाच-गान की तैयारी कर रही थीं। कमरा अभी तक सजाया जा रहा था।

मनोहर ने कहा—देखो, यही स्वर्ग है। यही सुंदरियों का प्यारा देश है।

मैंने कहा—हाँ, यह स्वर्ग हो सकता है; यहाँ स्वर्गीय सुंदरता भी है। परंतु शांति?

मैं बैठा हुआ बाहर से उनका बिजलियों की तरह नाचना देखता रहा—रात-भर मदिरा और नृत्य का समारोह चलता रहा।

चार बज रहा था—कामिनी की भीनी-भीनी महँक से मस्तक भर रहा था—नूपुरों की झनकार पास में सुनाई पड़ी। मैंने देखा—तरला जाने के लिये तैयार थी—और मनोहर उसकी बिनती कर रहा था।

मद-विह्वल मनोहर—मान छुड़ाने में असमर्थ रहा।

तरला चली गई—

मनोहर हताश होकर बैठ गया—जागरण और मदिरा से खिन्न होकर बाहर हरी दूब पर लेट गया—बेसुध!

मैंने ऊपर की ओर आँख उठाकर देखा—अनंत की गोद में सैकड़ों तारों के सहित चन्द्रमा शांति से अपना अस्तित्व मिटा रहा था। उसमें भी प्रभात का स्वर्गीय सौंदर्य था।



समाधि

१

बहुत दिनों के बाद, वह संन्यासी लौटा था। एक समाधि की छाया में खड़ा होकर वह विश्राम लेने लगा। वह बहुत थका हुआ था।

वह उसीकी प्रतिमा थी। उसने देखा, संगमर्मर की वह समाधि जैसे हँसने लगी। वह भावों की उद्विग्नता में, प्रतिमा को संबोधन कर, कहने लगा—तुम पाषाण हो, तुम कैलास की प्रतिमा बन गए हो, तुम्हारे रूप और बाहरी आवरण में कोई अंतर नहीं है; किन्तु तुम्हारे पास

हृदय नहीं ! तुम रोना नहीं जानते, तुम अट्टहास नहीं कर सकते, तुम्हें किसी की प्रसन्नता या पीड़ा का अनुभव नहीं !! संसार के सब सुख हमसे थककर चले जाते थे, उन्हें स्थिर न कर सका। इस शरीर पर बड़ा ममत्व था। इसीके स्मृति-स्वरूप, अपने मोह को स्थिर रखने के लिये, तुम्हें बनवाया; परंतु तुम शरीर-ही-शरीर रहे ! तुम्हारे भीतर स्पंदन नहीं, उच्छ्वास नहीं; तुम्हें आँसू बहाने नहीं आता !

किंतु प्रतिमा उसी तरह मौन थी।

संन्यासी उसी दिन से पर्यटन छोड़कर, अपनी ही समाधि का पुजारी बन गया। उसके मन में यह बात समा गई कि देखूँ, कोई भी मेरी समाधि पर आकर आँसू बहाता है या नहीं ?

संन्यासी के वहाँ रहने से, गाँव के लोग उसे कोई शक्तिशाली देवता समझकर, कभी-कभी उस प्रतिमा की पूजा-भेंट करने आने लगे। वन के फल-फूल उसकी भूख शांत किया करते। किसी तरह उसका जीवन-निर्वाह होने लगा। फिर भी, बहुधा, मनुष्यों की दृष्टि से वह अपनेको बचाता था। किसी परिचित को देखता, तो पत्तों की घनी हरियाली में छिप जाता था।

बहुत दिन व्यतीत हो गए ।

२

लता उसी गाँव की लड़की थी । उसका ब्याह नगर में एक सुशिक्षित युवक से हो गया था । किन्तु, वह प्रायः बीमार ही रहा करती । उसकी माँ ने उसे बुला भेजा था, समाधि की पूजा करने के लिये । क्योंकि उस योगी की विभूति से कल्याण-प्राप्ति में उसे दृढ़ विश्वास था ।

उस दिन लता, अपनी एक सखी और माता के साथ, माधव-वन के समीप, समाधि के पास आई । बहुत दिनों पर लता ने देखा कि कैलास की मूर्ति जैसे उसे प्रत्यक्ष दिखलाई दी । वह बड़े ध्यान से देखने लगी । उसकी आँखों से दो बूँद आँसू गिर पड़े ।

लता की सखी कुंती कुछ भी न समझ सकी । उसने पूछा—लता, कैसी तबीयत है ? मुख उदास क्यों है ?

लता की माँ उस समय समाधि की पूजा कर रही थी ।

कुंती ने बार-बार जिद करके पूछा—लता, इतना शिथिल क्यों हो रही हो ? कुछ बोलो ।

उसने एक ठंडी साँस लेकर कहा—कैलास, इस गाँव

का एक धनी व्यक्ति था। सुखों की खोज में, विलास की लालसा में, वह सदैव अतृप्त रहा। यही उसकी फुलवारी थी। मैं भी एक दिन उसमें फूल चुनने आई, मैं तब अपने-को बालिका ही समझती थी। विलासी कैलास एकांत पाकर, मुझे रोककर, कहने लगा—लता, तुम तो अब सयानी हो चली हो!

मैं भयभीत हुई, क्योंकि कैलास के नाम से गाँव की स्त्रियों में बड़ी सनसनी फैल जाती थी। मैंने कहा—आप मुझसे न बोलिए; मैं शपथ खाती हूँ। आपकी फुल-वारी में न आऊँगी।

कैलास ने कहा—क्या मैं पिशाच हूँ? तुम इतना डरती क्यों हो?

मैं अज्ञान थी। मैंने कहा—तुम इतने बदनाम क्यों हो?

वह सामने घुटनों के बल बैठकर कहने लगा—मैं आज से सच्चरित्र होने का प्रण करता हूँ, यदि तुम मुझसे विवाह करने की प्रतिज्ञा करो। लता, यदि तुम्हारे ऐसा निर्मल-हृदय मुझे मिला होता, तो मैं इतना घृणित न होता। मैं बड़ा अभागा हूँ। आह! मेरे लिये संसार में कौन आँसू बहावेगा? कोई नहीं!

न-जाने क्यों मैंने उसे उत्तर दिया—जब तुम किसीके लिये आँसू नहीं बहाते, दूसरों के आँसू पर हँसते हो, तो फिर तुम्हारे लिए कौन आँसू बहावेगा ?

मैंने देखा, कैलास अचानक किसी निगूढ़ विचार-सागर में डूब गया है। थोड़ी देर बाद, वह पश्चात्ताप के आवेग में कहने लगा—लता, तुमने मेरी आँखें खोल दीं ! क्या वास्तव में एक दिन इस जीवन का अन्त हो जायगा ? ओह, इस समाज में मृत्यु के पश्चात् कोई चिह्न भी तो नहीं रह जाता। यहाँ तो लोग जलाकर राख कर देते हैं। फिर संसार में आने का रहस्य क्या है ? मैं रहस्य को खोजूँगा। जाओ लता, मुझे क्षमा करो।

कुन्ती कुतूहल से सुन रही थी।

इसके बाद मैंने सुना कि कैलास का रहन-सहन बदल गया है। उसे संसार के प्रति निराशा होते हुए भी एक कुतूहल-सा था। मैं उसे दूर से देखती। वह बहुत बदल गया था। जैसे उसके हृदय में वासना और त्याग का द्वंद्व मचा हुआ था।

३

दूर देशों से शिल्प-कला के कुशल कारीगर बुलाए

गए। कैलास के इसी विलास-कानन में उसके स्मृतिचिह्न के लिये यही उसकी प्रतिमा स्थापित हुई। विलास से बचा हुआ सारा धन उसने इसमें लगा दिया; और फिर तीर्थ-यात्रा का निश्चय किया। यह समाचार सुनकर, सब मित्र, सम्बन्धी और परिचित उससे मिलने के लिये गए। पर, मैं न गई। वही बात आज सहसा स्मरण हो आई थी।

कुंती विचार में लीन हो गई थी। उसने रहस्यमय दृष्टि से लता की ओर देखते हुए कहा—उसके सम्बन्ध में मुझे बहुत थोड़ा मालूम था, मेरा विवाह हो गया था, और मैं यहाँ से चली गई थी।

लता की आँखें डबडबा गई थीं।

कुंती ने उसकी पीठ थपथपाकर कहा—लता, तुमने भूल की। तुम्हारे हृदय में उसके प्रति घृणा न थी, वह प्रेम था।

लता नत-शिर हो गई।

इतने में लता की माँ पूजा और प्रार्थना करके उसे पुकारने लगी।

माता ने कहा—लता, योगी तो आज नहीं है, तुझे आशीर्वाद कौन देगा? आओ चलें, फिर किसी दूसरे दिन आवेंगे।

योगी झाड़ी में बैठा हुआ ध्यान से यह दृश्य देख रहा था, और उनकी सब बातें सुन रहा था। उसकी अभिलाषा हुई कि इस बार अपनेको प्रकट कर दें। उसने सोचा, यह कैसा रहस्य है कि जीवन के प्रत्यक्ष में जो नहीं आता, वह बाद में आकर आँसू बहाता है।

अब वह अपनेको न रोक सका, और सामने आकर खड़ा हो गया। सबने भक्ति-सहित नमस्कार किया। योगी ने कहा—लता, तुम्हारे उस दिन न आने से मेरी यात्रा खंडित रही, और मुझे लौटकर फिर इस समाधि पर आना पड़ा। तुम सुखी रहो। मैं अब कभी न लौटने के लिये फिर जाता हूँ।

आश्चर्य और कुतूहल से लता की माँ के हाथ से पूजा के सामान छूट पड़े। उसके मुँह से निकल पड़ा—अरे! यह तुम्हीं हो कैलास !!



अकिंचन

१

"माँ, भूख लगी है"—बालक ने कातर वाणी में कहा।

माता निरीह दृष्टि से बालक की तरफ़ देखती हुई बोली—बेटा, कुछ देर ठहरो। देखो, बाबा आज क्या लाते हैं ?

बालक मचल-मचलकर रोने लगा।

माता ने उसे फुसलाते हुए उँगली के इशारे से कहा—वह देखो, बाबा आ रहे हैं।

थोड़ी देर बाद एक चर्मावशिष्ट कंकाल ने घर में

प्रवेश किया। उसकी धँसी हुई आँखों से निराशा बरस रही थी। वह बच्चे को गोद में लेकर चुपचाप बैठ गया।

स्त्री ने धीमे स्वर में पूछा—कहिए, आज क्या प्रबंध हुआ?

उसने कुछ जवाब नहीं दिया। एक 'आह' खींचकर वह आकाश की ओर देखने लगा। उस समय अँधेरा हो चला था। नीले आकाश की गोद में कई तारे हँस रहे थे।

उसने मन-ही-मन कहा—हे भगवन्, यह जीवन-नौका किस प्रकार पार लगेगी?

स्त्री ने विकल होकर कहा—आज घर में बच्चे के लिये भी कुछ नहीं है।

पुरुष की आँखें उमड़ आईं। उसने रुद्ध कंठ से कहा—अह, कहीं से एक पैसा ऋण भी नहीं मिला!

उसी समय बालक ने उसकी ठुड्डी हिलाते हुए कहा—बाबा, आज खाने को क्या लाए?

इस बार वह अपनेको रोक न सका। आँखों की उमड़ी हुई नदियाँ बड़े वेग से बह चलीं। पुरुष की ओर देखकर स्त्री अधीर हो गई। उसकी आशा का बाँध टूट गया। सिसकती हुई बोली—संसार क्या दुखियों के लिये नहीं है!

बड़ी देर तक दोनों अपने उजड़े हुए हृदय को थामकर चुपचाप बैठे रहे। दानवी चिंता उनके साथ भीषण परिहास कर रही थी।

स्त्री ने बालक की ओर बड़े छोह से देखा—वह गोद में सो गया था। उसके सुकुमार कपोलों पर आँसू की लकीरें खिंची हुई थीं।

२

देखते-देखते उस छोटी-सी कुटिया में सुनहली किरणों ने प्रवेश किया। भूमि पर स्त्री, पुरुष और बालक सोए हुए थे। सहसा स्त्री की निद्रा टूटी। उसके मुख पर किरणें चमक रही थीं। उसने आप-ही-आप कहा—किरणों की तपन जलाकर मुझे राख क्यों नहीं कर देती ?

उसी समय बालक की भी आँखें खुलीं। वह उठकर बैठ गया।

"बाबा, उठो। भली बेल हुई"—बालक ने कहा।

पुरुष ने भी आँखें खोल दीं। वह उठकर बैठना चाहता था, पर कमज़ोरी के कारण गिर पड़ा। उसकी आँखों के सामने अंधकार छा गया।

स्त्री ने कातर होकर कहा—कई दिन उपवास करते

बीत चुके, पेट में ज्वालामुखी धधक रही है; हे प्रभु ! अब भी कुछ शांति दो।

पुरुष सँभलकर फिर उठा। उसने करुण कंठ से स्त्री को सांत्वना देते हुए कहा—"आज मैं अंतिम बार अपने भाग्य को आजमाऊँगा।"—यह कहते हुए वह कुटिया के बाहर धीरे-धीरे चला गया।

स्त्री बालक को छाती से चिपटाकर भूमि पर लेट गई। अबोध बालक उसके सूखे स्तनों को मुँह में लगाए हुए दूध के लिये बिलखने लगा।



संध्या हो चली थी। अस्ताचलगामी सूर्य की कुछ किरणें अब भी बिखरी हुई थीं।

सहसा पुरुष ने लड़खड़ाते हुए कुटी में प्रवेश किया। सामने आकर वह गिर पड़ा। स्त्री ने देखा—पति को मूर्च्छा आ गई है। उसने शीतल जल से मस्तक को तर किया। पुरुष होश में आ गया। उसने कहा—"आज मार्ग में इसी तरह तीन बार मूर्च्छा आ गई थी। एक-एक पग मुश्किल से चलकर यहाँ तक पहुँचा हूँ। हा ! आज भी कुछ नहीं मिला। मार्ग में एक आम के वृक्ष के

नीचे दो आम पड़े थे, उन्हें बालक के लिये उठा लाया हूँ।"—कहकर उसने दो आम सामने रख दिए।

स्त्री ने एक लंबी आह खींचकर सिर नीचा कर लिया।

धीरे-धीरे रजनी ने संसार को अंधकार के अंचल में छिपा लिया। उस कुटी में भगवती निद्रा बड़े छोह से एक पुरुष, एक स्त्री और एक बालक की आँखों को चूमने लगीं!

२

सदा की भाँति प्रभात की सुनहली किरणों ने फिर उस कुटी में प्रवेश किया। वृक्षों की डालियों पर बैठे हुए विहग अपने मृदु कलरव से प्रभात का जीवन-संगीत गा रहे थे। सन्-सन् करता हुआ पवन जागरण का संदेश दे रहा था।

बालक जागकर उठ बैठा। उसने बड़े आश्चर्य से देखा—भोर हो गया है, पर अभी तक माता और बाबा की नींद नहीं खुली।

उसने कहा—माँ, उठो! सबेला हो गया।

किंतु माँ न उठी।

उसने अपने नन्हें-नन्हें हाथों से बाबा को उठाते हुए कहा—बाबा, उठो। किंतु कोई उत्तर न मिला।

"आह, कोई नहीं उठता!"—कहते-कहते उसकी आँखें छलछला पड़ीं। वह उन्हें बार-बार जगाने की चेष्टा करते हुए उनके उठने की प्रतीक्षा करने लगा!

किंतु, उस अबोध बेचारे की प्रतीक्षा कभी सफल होगी?



शय्या पर

१

वृद्धा ने अपने जीर्ण हाथों को ऊपर उठाकर कहा—प्रभो ! मुझे एक बार फिर नीरोग कर दो। मैं अपने पौत्र का मुख तो देख लूँ।

कहकर उसने एक लंबी साँस खींची।

२

वृद्ध नीरोग हो गया था।

दिन-पर-दिन बीतने लगे।

एक दिन उसने सुना, घर में पौत्र ने जन्म लिया है।

उसकी आँखों में हर्ष के बादल उमड़ पड़े, मन-मयूर नाच उठा।

२

इस समय पौत्र की अवस्था तीन वर्ष की थी।

वृद्ध एक क्षण के लिये भी उसे अपनी आँखों से ओझल न होने देता था। वह उसे कभी जंगली चिड़ियों का हाल सुनाता, कभी हृदय को गुदगुदा देनेवाली कहानियाँ सुनाता और कभी अपने बचपन के गाए हुए गीतों को चुटकियाँ बजा-बजाकर गुनगुनाता।

अबोध शिशु दादा की बातें सुन-सुनकर प्रसन्न होता, और कभी-कभी खिलखिलाकर हँस पड़ता। उसे हँसते देखकर वृद्ध की आँखों से हर्ष की दो बूँदें टपक पड़तीं।

बालक विस्मित होकर पूछता—ये गोल-गोल बूँदें कहाँ से आईं दादा?

वृद्ध कुछ उत्तर न दे पाता। उसकी आँखों से फिर कुछ बूँदें टपक पड़तीं।

एक वर्ष बीत गया।

छोटी-सी टूटी हुई चारपाई पर एक दिन फिर वह कराहते हुए दिखाई पड़ा।

उसकी आँखें बाढ़ में डूबी हुई थीं। गला रुँधा हुआ था। एक शिथिल वीणा की भाँति उसका सूखा कंकाल शय्या पर पड़ा हुआ था। बालक उसकी बग़ल में बैठा हुआ कह रहा था—दादा, आज कोई गीत न सुनाओगे?

वृद्ध ने एक बार फिर अपने दोनों सूखे हाथों को ऊपर उठाकर कहा—हे प्रभो! यह मेरी अंतिम आकांक्षा है—जब तक मैं अपने पौत्र का विवाह न देख लूँ, मेरे ये प्राण अपने पंखों को समेटे रहें।

किंतु एक दिन अँधेरी रात में वृद्ध के प्राणों ने अपने पंखों को फैला दिया। उस समय उसके मुख से सुना गया—"हरे राम, हरे राम!"

बालक मचलकर कहने लगा—"बाबा, आज तुम अच्छा गीत नहीं गा रहे हो। सुंदर गीत गाओ बाबा!"



और अब ?

१

उस दिन राज-तिलक था। शताब्दियों से बने हुए नियम के अनुसार नन्ददेव अपनी पैतृक भूमि के राजा होंगे। प्रजा में बड़ा उत्साह था।

बूढ़े मन्त्री ने आकर कहा—महाराज, शुभ मुहूर्त आ गया है; अब आप शीघ्र ही प्रस्तुत हो जायँ। राज-सभा में आँखें बिछाकर प्रजा आपकी प्रतीक्षा कर रही है।

तरुण नन्ददेव ने मंत्री की ओर देखते हुए कहा—बूढ़े नागरिक ! इस राज्य की पूर्ण स्थिति को जानते हुए भी मैं

तुमसे पूछता हूँ कि ऐसे समय क्या वहाँ किसी राजा की आवश्यकता है ?

मन्त्री ने नम्रता से झुककर कहा—धर्मावतार, आपके प्रश्न के तात्पर्य को मैं नहीं समझ सका। प्रजा को राजा की आवश्यकता क्यों नहीं है ?

नन्ददेव ने उत्तेजित होकर कहा—इस राज्य में लोग दाने-दाने को तरस रहे हैं। मनुष्य, मनुष्य को हिंस्र पशु के समान खाने दौड़ता है। ईर्ष्या, द्वेष और कलह का आतंक छा गया है। दरिद्रता के टूटे प्रासाद में विलासिता अपना शृङ्गार कर रही है। चोरी, हत्या और दुराचार बड़ी तीव्रता से बढ़ रहे हैं। जानते हो इसका कारण ?

मन्त्री आँखें नीची किये हुए चुप था।

न्याय, शासन और नियमों का दुरुपयोग किया गया। राजा अपने कर्त्तव्य को भूल बैठा। प्रजा मनमाने मार्ग पर भटकती रही। अपने पूर्वजों के कलुषित जीवन के कारण आज लज्जा से मस्तक झुका लेना पड़ता है, और बूढ़े नागरिक ! इन भयानक कार्यों में तुम्हारा कितना हाथ था, यह भी तुम भली भाँति जानते हो !

इतना कहते-कहते नन्ददेव मन्त्री की ओर देखने लगे।

मन्त्री ने हाथ जोड़कर कहा—अपने अपराधों के लिए मैं क्षमा-याचना करता हूँ।

नन्ददेव ने कहा—तो चलो, आज राज-सभा में अपराधों का प्रायश्चित्त किया जाय।

राज-सिंहासन पर खड़े होकर नन्ददेव ने स्वाधीनता की घोषणा की। उन्होंने कहा—मुट्ठी-भर अन्न के लिए आँचल पसारनेवाले मेरे नासमझ भाइयो, आज आप लोग मुझे उस कलुषित राज-सिंहासन का उत्तराधिकारी बनाने के हेतु उपस्थित हुए हैं, जिसपर बैठकर मनुष्य स्वच्छन्दता-पूर्वक मनुष्य के ऊपर हजारों वर्षों से अत्याचार करता आ रहा है। मैं प्रसन्नता के साथ उसका त्याग करता हूँ। मैं आप लोगों का राजा नहीं, साथी हूँ—सेवक हूँ। मैं भी आप ही लोगों की तरह एक साधारण प्राणी हूँ।

मैं आकाश और पृथ्वी को साक्षी करके कहता हूँ—कुसुमपुर के प्रत्येक नागरिक का समान अधिकार है। भूमि, सम्पत्ति और राजा के अधिकार में जो कुछ धन है, उन सबमें आप लोगों का बराबर हिस्सा है।

जनता आश्चर्य से चकित हो उठी।

गरीबों और किसानों ने 'धन्य है ! धन्य है !!' की पुकार मचाई।

धनियों और पदाधिकारियों ने एक साथ कहा—असंभव है ! ऐसा नहीं हो सकता !

२

बहुत समय बीत गया।

कुसुमपुर में हाहाकार मचा था।

बालक, युवक, वृद्ध और वनिताएँ—सभी शोक में पड़े थे। नन्ददेव सदैव के लिए सबका साथ छोड़कर चले गये थे।

कुसुमपुर का प्रत्येक पुरुष, उस पवित्र आत्मा के लिए विलाप करता हुआ, अरथी के साथ गया था।

श्यामला नदी के तट पर चन्दन की चिता धधक रही थी। चैत्र-पूर्णिमा थी। निशाकर, प्रकाश की उज्ज्वल माला लेकर, स्वागत कर रहे थे।

प्रकृति अपना राग अलाप रही थी। ऐसा राग, जिसे कभी अचानक सुनकर लोग कह बैठते हैं—आह ! संसार में कुछ नहीं है।

चिता की उठती लपटें टेढ़ी, सीधी, हिलती-डोलती-सी, 'कुछ नहीं है' के स्वर पर ताल दे रही थीं।

ऐसे समय नन्ददेव का कीर्ति-गान हो रहा था। राजा न होते हुए भी वे कुसुमपुर के पथ-प्रदर्शक थे। उनसे सबका स्नेह था।

चिता जल चुकी थी। कुसुमपुर की प्रजा आश्चर्य, कुतूहल और शोक से देख रही थी।

सबसे पहले उस बूढ़े मन्त्री ने श्रद्धा से झुककर चिता की राख को अपने मस्तक पर लगाया। इसके बाद अन्य लोगों ने उसका अनुकरण किया।

मंत्री ने अपनी झुकी हुई कमर को सीधी करने की चेष्टा में, जनता की ओर देखते हुए, गला साफ़ करके कहा—

जंगल में जिस तरह पशुओं का शासक सिंह रहता है, उसी तरह देश में मनुष्यों का शासक राजा होता है। भगवान् ने मनुष्यों को पशुओं से अधिक समझदार बनाया है और इसीलिए, पशुओं के राजा के समान, मनुष्यों का राजा, जब अपनी प्रजा का भक्षक बन जाता है, तब अत्याचार की आलोचना होने लगती है, न्याय और अन्याय की मीमांसा होती है और प्रत्येक मनुष्य के हृदय में यह प्रश्न उठने लगता है कि किसीके ऊपर किसीको शासन

करने का क्या अधिकार है ? ऐसा समय कुसुमपुर के इतिहास में अनेक बार आया है। महाराज नन्ददेव ने राजा के महत्त्व को अपने जीवन से समझा दिया है। अब कुसुमपुर के लिए हमें फिर एक शासक—एक राजा—एक पथप्रदर्शक—की आवश्यकता आ पड़ी है।

जनता ने साहस से कहा—हमें राजा नहीं, नन्ददेव चाहिये। हम स्वतन्त्र हैं।

इस घटना को बीते कई सौ वर्ष हो गये।

तब से सैकड़ों बार राजा और प्रजा का झगड़ा उठा। परिस्थितियों ने कभी प्रजा और कभी राजा के पक्ष में अपना अभिमत दिया !

और अब ?



चिड़ियावाला

१

"कोयल की बोली बोलो !"

"नहीं, पहले पपीहे की बोलो"

"नहीं, नहीं, भुजंगेवाली"

बालकों का एक झुंड चिड़ियावाले को घेरे था। उसका नाम कोई नहीं जानता था। जिस मार्ग से वह चला जाता, खेलते हुए बालक दौड़ पड़ते—चिड़ियावाला ! अरे चिड़ियावाला !! वह देखो, आ रहा है।

चिड़ियावाला हँस पड़ता, बालकगण उसके साथ हो लेते।

वह तरह-तरह की चिड़ियों की बोली, बड़ी खूबी के साथ, बोलता था। इसीलिये, उसका नाम था—चिड़िया-वाला! बूढ़े कहते—मैं अपनी जवानी से, स्त्रियाँ कहतीं—मैं अपने विवाह के पश्चात् से, इस चिड़ियावाले को इसी तरह देखती हूँ। पड़ोस में कोलाहल मच जाता। सब उसके इस कौशल पर मुग्ध हो जाते।

उसकी गुदड़ी का चिथड़ा खींचते हुए एक नटखट बालक ने कहा—"सब बोली तो बोल चुके! अब गदहे की बोली बोलो, बस, फिर न कहेंगे।"

"चाम के झोपड़े में आग लगी है—बाबा! वह कैसे बोलेगा? माँ जी से कुछ माँग लाओ, अब चलूँ।"—कहते हुए चिड़ियावाला अपनी गुदड़ी समेटने लगा।

लड़के मार्ग रोककर खड़े हो गये। एक ने कहा—अच्छा, भूत की सूरत दिखलाकर, तब—चले जाओ।

चिड़ियावाले ने अपने हाथों से आँखों की पलकें उलट लीं, रुई की तरह सफेद बालों से मुँह ढक लिया और दाँत निकालते हुए भयानक आकृति बनाकर कहा—हो-आः!

लड़के हँस उठे। खिड़की की चिक में से पैसे बरस पड़े। वह चलता बना।

यही उसका व्यवसाय था, और यही—उस महा-श्मशान की भीषण ज्वाला को धधकाने के लिये—कमाई थी।

नन्दन-बाबू की जमीन पर वह झोपड़ी बनाकर रहता था। झोपड़ी के सामने गेंदा और गुलमेंहदी समय-समय पर खिलती थी, जिसे देखकर वह प्रसन्न हो उठता था। उस पुराने पीपल के वृक्ष के नीचे उसकी झोपड़ी थी, सन्ध्या-समय जिसपर सैकड़ों पक्षी अपना बसेरा लेते थे।

नन्दन-बाबू ने, अपने किसी लाभ की आशा से, उसे वहाँ से निकाल दिया था। उनका लड़का सुशील रोज उसे मन-ही-मन खोज लिया करता; मगर बाबूजी के डर से कुछ न कहता।

एक दिन घूमते-फिरते हुए चिड़ियावाला उसी झोपड़ी की जमीन को चुपचाप देख रहा था। सुशील ने आकर कहा—चिड़िया की कोई बोली बोलो।

चिड़ियावाले ने एक बार उसकी ओर देखा, फिर ज़मीन की ओर देखते हुए चल पड़ा।

उस दिन से वह चिड़ियावाला फिर वहाँ न दिखाई दिया।

२

समय के नन्दन-वन में कितने ही परिवर्त्तन हो गए।

उस दिन पक्षियों के मधुर कलरव से आकाश गूँज उठा। जाड़े का गुलाबी प्रभात था। कुएँ के सामने बरगद का एक वृक्ष था, थके हुए मुसाफ़िर का वहीं विश्राम-गृह था। एक उजड़ी हुई झोपड़ी थी। वहीं, थका-माँदा चिड़ियावाला अपनी गुदड़ी पर पड़ा था।

प्रकृति सन्नाटे का राग अलाप रही थी। एक भटका हुआ पक्षी, रात-भर बसेरा लेकर, उड़ा जा रहा था—बहुत दूर! अपने भूले हुए पथ को खोज रहा था।

बड़ी करुण आह थी। एक दर्द-भरी तान थी। किसीने नहीं सुना। खून की एक उलटी हुई। कलेजा थामकर रह गया। किसीने नहीं देखा।

किरणें अपना जाल बना रही थीं। प्रलय का वह भीषण लाल खूनी अङ्गार अपने विराट् रूप की ओर संकेत कर रहा था। जीवन-कहानी एक पहेली बनकर स्वयं देख रही थी।



विलम्ब

१

"क्या तुम मुझे सचमुच चाहती हो ?"

उत्तर मिला—"किन शब्दों में कहूँ !"

"नहीं, तुम मुझे नहीं चाहतीं ।"

"यह आपने कैसा कहा ? नित्य आप ही का चिंतन करती हूँ, बार-बार आप ही का प्रेम-गीत गाती हूँ । रात्रि में सोते समय आप ही का स्वप्न देखती हूँ, हृदय से लगाने के लिये दोनों हाथों को फैलाती हूँ; किन्तु आप चले जाते हैं । जब प्रातःकाल उठती हूँ, स्वप्नों के चित्र

आँखों में तैरने लगते हैं। सोचती हूँ, आप क्यों चले जाते हैं ?"

उत्तर मिला—"अच्छा, तुम जिस दिन मुझे पूर्ण रूप से चाहोगी, जिस क्षण हृदय से याद करोगी, मुझे तत्काल अपने समीप पाओगी।"

कहकर वह चले गये।

उसने साँस खींचकर कहा—"आह, वह चले गए। उन्हें जी-भर बाहु-पाश में भेंट न सकी और वे एकाएक चले गए।"

२

दिन-पर-दिन बीतने लगे।

महीने-पर-महीने जाने लगे।

वर्ष के बाद वर्ष समाप्त हो गए।

बादलों के पंखों पर उड़कर बरसात आई और चली गई। उद्यानों में फूलों के अधरों को चूमकर वसन्त चला गया। शिशिर भी अपनी शीतलता छिड़ककर चली गई।

सभी ऋतुएँ आईं और चली गईं। पर वह जिसे चाहती थी, वह नहीं आया।

एक दिन एकांत में उसने अपने हृदय में ढूँढ़कर

उससे पूछा—"उन्होंने कहा था, तुम मुझे जिस क्षण हृदय से याद करोगी, तत्काल अपने समीप पाओगी!"—क्या तुमने सचमुच कभी स्मरण नहीं किया? या यह भी उनकी एक दिल्लगी थी, बहला देने का ढङ्ग था?

हृदय ने धीमी साँस से कहा—"धैर्य धरो।"

"इतने पर भी?"

"हाँ।"

लोभी हृदय की आशा पर—साहस पर—उसे आश्चर्य हुआ!



प्रमदा

१

उसका नाम था—प्रमदा ।

मैं पुकारता—प्रमदा, आओ ।

वह कहती—अभी आती हूँ गोपाल !

वह आती और हम लोगों का खेल आरंभ हो जाता। उस समय मेरी अवस्था दस वर्ष की थी, प्रमदा मुझसे दो वर्ष छोटी थी ।

सन्ध्या समय मुझे पढ़ाने के लिये मास्टर आते। कभी-कभी वह देर में छुट्टी देते। उस समय प्रमदा व्याकुल होकर मेरे द्वार पर से मुझे बार-बार देखती। मैं भी खेलने के लिये चञ्चल हो उठता, और पढ़ने में

तनिक भी मन न लगता। इसी अपराध के लिये मुझे कभी-कभी मार भी खानी पड़ती।

खेल के समय पड़ोस के सब लड़के एकत्र हो जाते। हम लोग कभी गेंद लेकर खेलते और कभी 'चोर-चोर' खेलते। उसमें प्रायः प्रमदा ही चोर रहती, और वह खेल में सफल भी नहीं होने पाती; अतएव उसके बदले मैं ही उसका स्थान ले लेता।

बातचीत में हम लोग आपस में लड़ते। कभी प्रमदा से लड़ाई होने पर कई दिनों तक बोलचाल न होती। फिर प्रमदा आती और मेल हो जाता!

इसी तरह दो वर्ष बीत चुके थे। मैं भी स्कूल में पढ़ने जाता था, और प्रमदा भी बाहर खेलने के लिये निकलने न पाती थी। जब कभी वह मेरे घर पर आती, तब हम दोनों बैठकर ताश खेलते थे। उस समय और तो कोई खेल नहीं आता था; हाँ, रंगमार खेलना आता था। अथवा ताश की गड्डी लेकर हम दोनों बैठ जाते। वह ताशों का मकान बनाती और मैं भी। जिसका मकान ऊँचा बनता, वही जीतता था। मैं आँख बचाकर प्रायः फूँककर उसका घर गिरा देता और कहता—देखो, हवा से

तुम्हारा मकान गिर गया। वह बेचारी फिर से अपना मकान बनाती। यही हम दोनों के मन-बहलाव का एक साधन था। प्रमदा के बिना मेरा मन न लगता था।

मैं पुकारता—प्रमदा, आती हो?

प्रमदा कहती—गोपाल, अम्मा नहीं आने देती। अभी घर का काम करना है।

मैं निराश हो जाता, और घर में आकर चुपचाप बैठ जाता।

अब प्रमदा १२ वर्ष की हो चुकी थी। वह मुझसे बहुत कम बोलती। कारण, उसके घरवाले इसे पसंद न करते थे। अतएव अब मेरा मन बहलना कठिन था।

लड़कपन की सब बातें भी बदलती जा रही थीं। लज्जा, संकोच और विवेक ने हृदय में प्रवेश किया। मेरे सब साथी मिलते, किंतु प्रमदा न आती, इसका बड़ा दुःख होता। धीरे-धीरे हम लोगों के सब खेल भी बंद हो गए।

प्रमदा के पिता दफ़्तर में नौकरी करते थे। उनकी बदली हो गई। वह दूसरी जगह चले गए। सुना था, वहीं साल प्रमदा का विवाह भी होगा।

प्रमदा का फिर कुछ पता न लगा।

दस वर्ष बीत चुके थे। एक दिन प्रमदा का पुराना नौकर कल्लू आया। उसने पूछा—भैया, अच्छे हो? घर में सब कोई मजे में हैं?

मैं कुछ देर तक उसकी तरफ़ देखता रहा; मगर पहचान गया कि कल्लू है। मैंने कहा—तुम कैसे आए कल्लू? क्या बाबू के यहाँ की नौकरी छोड़ दी?

उसने कहा—नहीं भैया, वहीं हूँ। उन्हीं लोगों के साथ आया हूँ।

मैंने पूछा—प्रमदा कैसी है? क्या वह भी आई है?

कल्लू ने कहा—यहाँ सबके साथ यात्रा करने आई हैं। उनका विवाह दिल्ली में हुआ। अब तो लड़के भी हैं, एक पाँच वर्ष का है और दूसरा तीन वर्ष का।

मैंने पूछा—अब वे खेलने के दिन गए?

कल्लू ने कहा—भैया, चलो, एक बार सबसे भेंट कर लो न।

उस दिन से मैं प्रायः नित्य धर्मशाला में भेंट करने जाता। प्रमदा के पति बड़े स्वच्छ हृदय के, मिलनसार, आदमी थे।

२

मैंने कहा—सुनो।

उसने कहा—क्या?

मैंने कहा—जरा यहाँ आओ।

उसने कहा—अभी काम है।

मैंने उसका हाथ पकड़ लिया।

उसने कहा—मत······हाँ······ऐं!

मैंने कहा—एक बड़ी जरूरी बात कहनी है।

उसने कहा—आखिर कहो भी तो।

मैंने कहा—तुम्हारी नाक में नथ बड़ी सुन्दर लगती है।

न-जाने क्यों, उस दिन मैं बड़ा उदास था, अपनेको बहलाने की चेष्टा कर रहा था।

उसने कृत्रिम हँसी हँसकर कुछ शर्माते हुए कहा—तुम्हारी बात बस यही है? अच्छा, अब मैं इसे न पहनूँगी।

उसने उसी समय सन्दूक में से नाक़ की कील ढूँढ़ निकाली और उसे पहनकर उसने कहा—देखो, अब यह तो हुआ तुम्हारे मन का फ़ैशन?

वह मुस्करा रही थी। मैंने उन्मत्त के समान देखते

हुए कहा—तुम्हें इसी तरह दिन-रात देखते रहने की बड़ी इच्छा होती है।

अपनी झेंप मिटाने के लिये पुकारा—विलास !

आवाज़ आई—हाँ !

मैं आपे में आ गया। बालक विलास दौड़ता हुआ आया। उसके हाथ में एक गेंद थी। मैंने विलास को गोद में लेकर चूम लिया। पूर्व-काल की स्मृतियाँ हृदय में जाग उठीं। मैं भी कभी बालक था ! कितना सुखी था ! आह, वह जीवन सदैव बना रहता, तो संसार स्वर्ग बन जाता।

❀ ❀ ❀ ❀

सूर्यदेव की किरणें आकाश में पूर्ण रूप से बिखर चुकी थीं। मैं धर्मशाला के कमरे में बैठा हुआ विचारों में लीन था। कभी हँसता, कभी गाता और कभी रोता था।

वह स्नान करके उठी थी। मेरे सामने आई। मैं एक-टक उसकी तरफ़ देखने लगा।

उसने पूछा—क्या सोच रहे हो ? इतने उदास क्यों हो ?

मैंने कहा—कुछ नहीं, यों ही।

उसने कहा—भला कुछ तो—बतलाते क्यों नहीं ?

मेरे नेत्रों से अविरल अश्रुधारा बह चली। वह अपने आँचल से पोंछने लगी।

उसने कहा—किस लिये रोते हो? मेरे लिये! पुरुष होकर रोते हो! तुम्हें तो मुझे धैर्य देना चाहिए, सो......!

इतना कहते-कहते वह भी रो पड़ी। उसकी सिसकियाँ बँध गईं। मैं अपने रूमाल से उसकी आँखें पोंछने लगा।

उसने कहा—हम लोगों के लिये यह सब याद करने पर केवल स्वप्न की-सी बातें मालूम होंगी।

मैंने कहा—संयोग था।

दूसरे दिन प्रमदा सबके साथ चली गई।

जीवन के अन्त में मृत्यु है, सुख के बाद दुःख है, दुःख के बाद सुख है। प्रेम में सुख भी है और दुःख भी। मिलन के बाद वियोग है, वह भी सुख है, और मान लेने पर दुःख भी है।

अब मेरे भी वियोग के दिन थे।

जब अस्ताचल पर जाते हुए सूर्यदेव की सुनहली किरणें आकाश से विदा माँगतीं; पक्षियों का कलरव सुन पड़ता, एक के बाद एक क़तार बाँधकर जब सब अपने बसेरे की ओर लौटते; वृक्षों पर धीरे-धीरे अंधकार छा

जाता, प्रकृति सूनसान हो जाती; आकाश में दो-चार तारे दिखलाई देते, चन्द्रदेव का क्षितिज में प्रवेश होता और हँसती हुई चाँदनी गंगा की लहरों से कल्लोल करती, तब मैं उसके तट पर एकान्त में अपनी छिन्न अंतर्वीणा लेकर बैठ जाता और रो-रोकर अतीत की स्मृतियों की रागिनी गाने लगता। न किसीसे बात करता, न किसीसे मिलता। मैं एकांतप्रिय हो गया था। चुपचाप बैठकर कभी घंटों आकाश के तारों की ओर ही देखता रह जाता, और कभी गंगा की लहरों की ओर।

बस, यही मेरी दिनचर्या थी।

लोग मुझे पागल समझते; किन्तु इस पागलपन को वही जान सकता है, जिसने कभी प्रेम-गंगा में डुबकी लगाई हो!



हास्यरस की अत्युत्तम पुस्तकें

मेरी हजामत

इस पुस्तक को पढ़िए और हँसते-हँसते लोटपोट हो जाइए। वास्तव में यह हास्य-रस की अद्वितीय और अपूर्व पुस्तक है। हास्य के साथ ही-साथ इसकी एक-एक कहानी समाज-सुधार और राजनीति से ओतप्रोत है।

सुन्दर छपाई, बढ़िया कागज, मूल्य केवल ॥=)

मगन रहु चोला

दर असल यह पुस्तक रोते हुए को हँसानेवाली है। एक-एक शब्द से हास्य रस टपकता है। पढ़नेवाला हँसते-हँसते दुहरा हो जाता है। पुस्तक हँसाने की गारंटी देकर लिखी गई है। मूल्य केवल ।॥)

महाकवि चच्चा

आपने हजारों पुस्तकें पढ़ी होंगी, परन्तु हम दावे के साथ कहते हैं कि आज तक ऐसे मीठे मजाक की, दिल लुभानेवाली, एक भी पुस्तक न पढ़ी होगी। वास्तव में लेखक ने अपनी खुशदिली का जीता-जागता परिचय दिया है। आप अगर एक बार पुस्तक हाथ में ले लेंगे, तो बिना समाप्त किये छोड़ नहीं सकते। मूल्य १)

शिक्षाप्रद उत्तमोत्तम कहानियाँ और उपन्यास

मीनाबाजार

इस पुस्तक के लेखक पं० हनूमानप्रसादजी शर्म्मा हिन्दी में स्वास्थ्य-साहित्य के प्रसिद्ध और सफल रचयिता हैं। इसमें आप ही की, नवयुग की भावनाओं से पूर्ण, सामाजिक और राजनीतिक, १२ कहानियों का संग्रह है। इसकी प्रत्येक कहानी समाज-सुधार और राजनीति के हृदयग्राही भावों से शराबोर है।

छपाई-सफाई सुन्दर; मोटा एँटिक कागज; चित्ताकर्षक एवं दर्शनीय कलापूर्ण तिरंगा कवर, मूल्य १)

अश्रुदल

यह श्रीमङ्गलप्रसादजी विश्वकर्मा की चुनी हुई सुन्दर साहित्यिक कहानियों का संग्रह है। इनमें आह है, दर्द है एवं दुःखी हृदयों की ज्वाला है। कई कहानियों को पढ़कर आप यही कह उठेंगे कि करुणारस का अपूर्व सम्मिश्रण है। एक बार आप अवश्य इन कहानियों को पढ़िए। इसकी भूमिका 'सरस्वती' के भूतपूर्व सम्पादक श्रीपदुमलाल-पुन्नालाल बख्शी बी० ए० ने लिखी है।

सुंदर चित्ताकर्षक छपाई, देखने-योग्य कवर, मू० ॥)

प्रेम-कहानी

इस पुस्तक में संसार के सुप्रसिद्ध फ्रेंच उपन्यास-लेखक विक्टर-ह्यूगो और रूसी कथाकार डोस्टावेस्की की प्रेम-कहानी का बड़ा ही मनोरंजक और हृदयग्राही वर्णन है। उनकी प्रेमिकाओं के पत्रों का वर्णन भी यत्रतत्र किया गया है। उनके कई सुन्दर चित्र उनकी प्रेमिकाओं के साथ दिए गए हैं। सुन्दर छपाई और सात रंगीन चित्र, मूल्य ॥)

विदेशी दैनिक पत्र

आप घर बैठे ही केवल चार आने पैसे खर्च करके जान सकेंगे कि विदेशों में दैनिक पत्र किस प्रकार निकाले जाते हैं, वहाँ के पत्रों के लिए कौन-कौन-सी बातें आवश्यक हैं और समाज में तथा राजनीति में पत्रों का क्या स्थान है—पत्रकार का क्या कर्त्तव्य है। मूल्य केवल ।)

मुन्नी की डायरी

यह सामाजिक उपन्यास देश के वर्त्तमान समाज का जीता-जागता करुणारसपूर्ण चित्र है। इसमें समाज की प्रत्येक कमजोरी का खाका बड़ी खूबी के साथ खींचा गया है। पुस्तक पढ़ने ही लायक है। बढ़िया सचित्र कवर, मनोहर छपाई, मूल्य १)

संदिग्ध संसार

यह गुजराती साहित्य के उच्च कोटि के सामाजिक उपन्यास का अनुवाद है। शिक्षा और मनोरंजन का भंडार है। आजकल के साधु-महात्मा नामधारी किस प्रकार अपने भोले-भाले शिष्य समुदाय को ठगते और हर तरह से भ्रष्ट करते हैं; आदि बातों के जानने के लिए इस उपन्यास को अवश्य पढ़िए। सुन्दर छपाई; चित्ताकर्षक आवरण-पृष्ठ; मूल्य केवल ३)



शक्ति

यह रूसी उपन्यास का अनुवाद है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि रूसी जनता ने इसका कितना सम्मान किया है। वास्तव में यह उपन्यास अपने नाम को पूर्ण रूप से चरितार्थ करता है। अनुवाद भी बड़ा ही सुन्दर और लोक प्रिय हुआ है। इसे एकबार अवश्य पढ़िए। बढ़िया मोटे कागज पर साफ-सुथरी छपी हुई पुस्तक, दुरंगा कवर मूल्य केवल २)



सबके पढ़ने योग्य पुस्तकें